मुक्तिबोध की फंतासी का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन

(एम.फिल्. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध)

शोध-निर्देशक
डॉ रमण प्रसाद सिन्हा

शोधार्थी
कौशल कुमार
मधुकर

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – ११००६७
(२००८)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Center of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

21st July 2008

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled "Muktibodh ki Fantasi Ka Manovishleshnatmak Adhyayan" (Psychoanalytical Study of the Fantasies of Muktibodh) by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

Kaushal Kumar Madhukar
(Research Scholar)

Dr. Raman Prasad Sinha
(Supervisor)
CIL/ SLL&CS/ JNU

Prof. Vir Bharat Talwar
(Chairperson)
CIL/ SLL&CS/ JNU

GRAM: JAYENU, Tel: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217 Fax: (91-011)-26717603, 26717586

समर्पण

'आदम के साँचें' गढ़ती आ रही आदरणीय परम्परा को...

भूमिका

एम.फिल्. प्रथम वर्ष में 'शोध–प्रविधि' का अध्ययन करते हुए मनोविश्लेषणवाद के महत्त्व और हिन्दी साहित्य में उसकी जरूरत से पहला परिचय हुआ था। डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा की व्युत्पत्ति और अध्यापन–कौशल ने बरबस ही इस ओर ध्यान आकृष्ट कराया। साहित्य के मनोविश्लेषण को लेकर एक कौतुहलवर्द्धक रूचि का मेरे अन्दर विकास होता गया और धीरे–धीरे मैं इस विचार के प्रति दृढ़ होता गया कि मुझे मनोविश्लेषण के अनुभव का साक्षात्कार करना चाहिए। इसी वैचारिक आग्रह के वशीभूत मैं कुछ ऐसी समस्या खोज लेना चाहता था, जिसके मनोविश्लेषण की आवश्यकता भी हों। सोचते–विचारते मैं इस निर्णय तक पहुँचा कि मुक्तिबोध की फंतासी का इस लिहाज़ से अध्ययन किया जा सकता है। वस्तुत: इसका एक और कारण मुक्तिबोध की फंतासी पर भाववादी शिल्प होने के कारण वैयक्तिकता का आरोप लगाया जाना भी था। मुक्तिबोध की फंतासी को पढ़ते हुए मुझे वैयक्तिकता का आभास तो प्राप्त होता लेकिन साथ ही उसमें सामूहिक–भाव–सम्मेलन की आकांक्षा भी दिखाई पड़ती। मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुए एतद् संबंधी निष्कर्ष तक पहुँचने की आशा भी थी। सो, मैंने शोध–समस्या का चयन करते समय अपने शोध–निर्देशक डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा से इस बाबत बात की, उन्होंने उत्साहित भाव से इस समस्या पर शोध करने की मुझे अनुमति प्रदान कर दी।

हिन्दी साहित्य के शोध–क्षेत्र में मनोविश्लेषण का पर्याप्त अभाव है। कुछ थोड़े शोध जो हुए हैं, उस पर भी सामग्री के अभाव का खासा प्रभाव दिखाई पड़ता है। मनोविश्लेषण की प्रविधि हिन्दी साहित्य में प्रौढ़तर रूप में प्रयुक्त नहीं हुई है। 'कामयानी एक पुनर्विचार' भी, जो नि:संदेह एक प्रौढ़ कृति है, नितांत मनोविश्लेषण पर आधृत नहीं है। मनोविज्ञान के विविध उपरकणों को

ध्यान में रखकर अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र ने कई—कहानियाँ—उपन्यास लिखे हैं परन्तु साहित्य के भीतर किसी वृति को जानने—समझने के लिए मनोविश्लेषणवाद को एक गम्भीर पद्धति के रूप में कभी अपनाया नहीं जा सका। हिन्दी—साहित्यिक आलोचना मार्क्सवादी आलोचना पद्धति से बेहद आक्रांत रही है। डॉ. नामवर सिंह ने जब 'कविता के नए प्रतिमान' में लीक से हटकर कविता का मूल्य प्राप्त करना चाहा तो उन पर भी 'रूपवादी झुकाव' का आरोप चस्पाँ कर दिया गया। हिन्दी—आलोचना सम्भवत: अभिव्यक्ति के खतरे उठाने की हिम्मत नही दिखा सकी, यही कारण है कि हिन्दी—साहित्य के विवेचन की प्रवृत्ति कभी मनोविश्लेषणवाद की ओर झुक ही न सकी।

प्रस्तुत शोध—समस्या पर कार्य करते हुए, किसी प्रौढ़ परम्परा का अभाव खटकता रहा है, इसके लिए भी हमें अंग्रेजी में लिखी पुस्तकों और मनोविश्लेषण के कार्यों का सहारा अनिवार्यत: लेना पड़ा। मनोविश्लेषण के दौरान किसी ऐसी पुस्तक की अनुपलब्धता भी परेशानी का सबब बनी, जो मनोविश्लेषण के सिद्धांत के अनुप्रयोग पर हमारा मार्गदर्शन कर पाती, इसलिए अनिवार्यत: एक प्रौढ़ विश्लेषण का काम अब भी बचा रह गया।

शोध-प्रबंध का प्रथम अध्याय सिद्धांत—पक्ष को प्रस्तुत करता है। फंतासी क्या है? उसकी निर्मिति का कारण क्या है? रचना के क्षेत्र में उसका स्वरूप किस तरह बदलता है— आदि मुद्दे इस अध्याय के उपजीव्य है। फ्रायड इस सन्दर्भ में केन्द्रीभूत हैं। जुंग, लँका, मुक्तिबोध, राजेश जोशी आदि के विचार वस्तुत:फ्रायड के विश्लेषण को ही स्पष्ट करने के लिए उद्धृत किए गये हैं।

दूसरा अध्याय मुक्तिबोध के जीवन से जुड़े उन पहलुओं को प्रस्तुत करता है, जिस से मुक्तिबोध की मानसिक संरचना और फंतासी के संबंधों को एक साथ देखने की दृष्टि प्राप्त हो सके। रचनाकार की मानसिक संरचना पर उसके जीवन की विविध घटनाओं का प्रभाव पड़ता है, यह घटना किसी रचनाकार की रचना-दृष्टि को भी दिशा प्रदान करती हैं। मुक्तिबोध के संदर्भ में

अवचेतन के निर्माण से सम्बद्ध पहलुओं पर ज्यादा विचार किया गया है, क्योंकि संवेदनात्मक प्रतिक्रिया या फंतासी का संबंध इससे अधिक गहरा होता है।

तीसरा अध्याय मुक्तिबोध की कुछ चयनित फंतासी का मनोविश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें फंतासी का विश्लेषण फंतासी के रचनाकाल को आरोही क्रम में रखकर किया गया है, जिस से मुराद यह रही है कि विश्लेषण में एक कालिक क्रमपरकता भी बनी रहे।

इस लघु शोध प्रबंध को मूर्त रूप देने में मेरे शोध–निर्देशक डॉ. रमण प्रसाद सिन्हा के स्नेह, सकर्मक सहयोग और कर्त्तव्य–बोध पैदा करानेवाली अनुशासनप्रियता का भास्वर योगदान रहा है। सर स्वयं एक गम्भीर शोधार्थी हैं। अपने शोध–कार्य के दौरान उनका यह व्यक्तित्व मेरी प्रेरणा बनता रहा और मैंने गहराई से चीज़ों को परखने का प्रयास किया। प्रेरणा का यह स्त्रोत मुझे आज भी आशीर्वादित करें, इन्हें नमन करता हूँ।

अपने अध्ययन के दौरान कई गुरूजनों का स्नेह पाता रहा हूँ, सोचता हूँ, गुरू की यह भास्वर परम्परा न रही होती तो दुनिया कितनी अनगढ़ होती। इसी परम्परा में से, उन गुरूजनों को याद करते हुए नमन करता हूँ, जिन्होंने एम. फिल्. के दौरान मुझे पढ़ाया और साहित्य की समझ को माँजने का काम किया।

गुरूवर रामपूजन सिंह के आशीर्वाद और स्नेहपूर्ण सहयोग ने वह अनुकूल माहौल प्रदान किया, जिसमें मेरी साहित्यिक समझ पल्लवित हुई है, उनके स्वास्थ–लाभ की कामना करते हुए उन्हें नमन करता हूँ

अपने शोध के दौरान ज.ने.वि. पुस्तकालय, डी.यू. पुस्तकालय, तीन मूर्ति पुस्तकालय एवं साहित्य अकादमी पुस्तकालय से सहायता प्राप्त की। यहाँ के सहयोगी कर्मचारियों को धन्यवाद।

अग्रज सुनील कुमार सुमन, धनंजय, राजेश एवं मुनील के अतुल्य सहयोग और अनमोल सलाह की पात्रता मिली, ह्रदय इनका आभार प्रकट करता है।

अमिष, अजय, अभिषेक, अभिमन्यु शेफालिका, सृजन, वन्दना, राजेश, मनीष और चंदन से सामग्री एकत्र करने, प्रूफ रीडिंग और छपाई में जो सहयोग प्राप्त होता रहा, उसे मित्र–लाभ की अपनी पात्रता समझता हूँ और हक़ भी। आभार न प्रकट कर इनके स्नेह को अतुलनीय ही छोड़ देता हूँ।

मुन्ना–मुन्नी, राजू, पिंटू–किम्मी और रजनीश के नेह और जल्दबाज़ी ने मुझे शोध–कार्य पूरा करने का हौसला दिया, इन्हें स्नेहाशीष।

इस दौरान दादी की याद, बीनू से नोंक–झोंक एवं प्रीति, सोनी लता, अमित, नीरज और प्रिया के स्मरण ने, थोड़े समय के लिए ही सही शोध–कार्य की एकरसता से बचाये रखा, इनके बारे में क्या कहूँ...।

यह संगीता अभय की जादुई उंगुली का ही कमाल था, जिसने इस शोध प्रबंध को समय से टाइप कर दिया। इनका आभार प्रकट करता हूँ

माँ और बाबूजी के अनुशासन, प्यार और दृढ़–इच्छाशक्ति की छाँव में मैं 'मिट्टी का माधो' होने से बचा रह गया। इनकी सम्पूर्ण उपस्थिति को प्रणाम करता हूँ।

कौशल

विषय–सूची

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	i – iv
प्रथम अध्याय	
फंतासी क्या है	१—२३
द्वितीय अध्याय	
मुक्तिबोध की मानसिक संरचना और फंतासी	२४—४२
तृतीय अध्याय	
मुक्तिबोध की कुछ महत्वपूर्ण फंतासियाँ;	
मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन	४३—१०९
क. मेरे सहचर मित्र	
ख. जब प्रश्न–चिह्न बौखला उठे	
ग. चाँद का मुँह टेढ़ा है	
घ. ओ काव्यात्मन् फणिधर	
ङ. लकड़ी का रावण	
च. ब्रह्मराक्षस	
छ. दिमाग़ी गुहान्धकार का ओराँगउटाँग	
ज. अँधेरे में	
उपसंहार	११०—११२
ग्रन्थानुक्रमणिका	११३—११६

प्रथम अध्याय

फंतासी क्या है

'इनसाइक्लोपेडिया ऑफ फिलॉसफी एण्ड साइकोलॉजी' में 'fanaticism' शब्द के लिए उसके तीन समानार्थी शब्दों 'fanatismus' (जर्मन), fanatisme (फ्रेंच) एवं fanatismo (इटालियन) को उद्धृत किया गया है। इन भाषाओं के शब्दकोश में फंतासी के लिए जिन समानार्थी शब्दों को उद्धृत किया गया है, वे प्रायः 'Dream' या 'imagination' (स्वप्न या कल्पना) हैं। शब्दकोश से प्राप्त इन शब्दों को फंतासी का पर्याय न मानने के बावजूद इस तथ्य से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता कि फंतासी का संबंध 'स्वप्न' या 'कल्पना' से भी है। इनसाइक्लोपेडिया... स्पष्ट लिखता है कि ईसाईयत के पौराणिक काल में 'Fanaticism' शब्द का अभिप्रेत अर्थ 'कोई रहस्य' या 'दैवीय शक्ति' हुआ करता था। सम्भव है, इसलिए जर्मन शब्दकोश ने फंतासी (fantasie या phantasie) के लिए अंग्रेजी समानार्थी शब्द *'Hallucinations'*[1] का भी प्रयोग किया है। इसका अनुप्रयोग व्यक्तिगत तौर पर बेहद उग्र एवं जंगली किस्म की क्रियाविधि के लिए भी किया जाता रहा है, इसकी पुष्टि भी इनसाइक्लोपेडिया...' से हो जाती है। 'फ्रायड एण्ड ह्यूमिनिटीज' के एक निबंध में एन्थोनी स्टोर (Anthony Storr) लिखते हैं *''कोई भी असंतुष्ट इंसान, जो यथार्थ से दूर जाता है और अपनी एषणाओं एवं सेक्सुअल चाहत को आशायुक्त रचनात्मक जीवन की फंतासी में अंतरित करता है, तब उसका ऐसा करना एक असामान्य व्यवहार से संचालित हो सकता है।''*[2] सम्भव है, यह असामान्य व्यवहार व्यक्तिगत स्तर पर 'बेहद उग्र' अथवा 'जंगली' किस्म का हो परन्तु ऐसा कहते हुए हमें इस बात का ध्यान है कि उग्र किस्म का व्यवहार हमेशा फंतासी के कारण ही परिचालित नहीं होता।

'इनसाइक्लोपेडिया...' आगे लिखता है कि *''इस शब्द का प्रयोग अब अचेतन के लिए होता है। मध्ययुग में अतिशय तपश्चर्या एवं भ्रमणशीलता जैसे कार्य fanaticism की ही उत्पत्ति थे।''*[3] टायलर मानते हैं कि *"fanaticism एक विशेष अनुराग या उत्साह है,जो घृणा के तेल से प्रज्वलित*

रहता है। अत: यह उस विशेष उत्साह या अनुराग का दोष है, जो संतुलन के अभाव या अतिशयता के कारण उत्पन्न होता है।' टायलर जिस संतुलन की बात कर रहे हैं, 'इनसाइक्लोपेडिया...' उसका संबंध मनुष्य की चेतना या बुद्धि से जोड़ता है। उसके अनुसार, प्राय: समझा जाता है कि यह दिमाग़ी क्रिया का एक रूप है, इस से प्रभावित मनुष्य मानसिक बीमारी की ओर पूर्व–प्रवृत होता है। इस मानसिक विकार की सामर्थ्य बेहद भाव–प्रवण होती है और निश्चितरूपेण इसका संबंध Sanity (विवेक) एवं Insanity (अविवेक) के सीमा–क्षेत्र से होता है।

मानसिक संरचना में फंतासी की भूमिका बेहद मजबूत होती है। फंतासी निर्माण की प्रक्रिया हमारे मानसिक उपकरण की सामान्य प्रवृत्ति है – ऐसा फ्रायड भी मानते हैं। 'फार्मुलेशन्स रिगार्डिंग द टू प्रिसिपल्स इन मेंटल फंक्शनिंग' (Formulations Regarding the two principles in mental functioning) नामक निबंध में फ्रायड की फंतासी - निर्माण–संबंधी अवधारणा कुछ इस तरह स्पष्ट हुई है– ''यथार्थ - सिद्धांत (Reality Principle)* से परिचय के साथ विचार–प्रक्रिया (Thought activity) की

**'id' एवं 'Ego' क्रमश: मनुष्य के अवचेतन एवं चेतन में उपस्थित मानिसक ऊर्जा का अक्षय केन्द्र होता है। ये दोनों क्रमश: आनंद–सिद्धांत (Pleasure Principle) एवं यथार्थ सिद्धांत (Reality Principle) के आश्रित होते हैं।*

आनंद–सिद्धांत का चरित्र बाल–हठ की तरह होता है, जो हर सूरत में अपनी इच्छा की सम्पूर्ति चाहता है 'ऑल एबाउट साइकोएनालिसीस' (All about Psychoanalysis) में जोसेफ रोज़नर (Joseph Rosener) फ्रायड का उल्लेख करते हुए लिखते हैं– ''अवचेतन मन बिल्कुल इसी तरह (बाल - हठ की तरह) कार्य करता है। यह आत्मतुष्टि को लिए स्वत: स्फूर्त रूप से लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होता है। यह आनंद–प्राप्ति का प्रयत्न है। आनंद–सिद्धांत (Pleasure Principle) से फ्रायड का तात्पर्य व्यक्तिगत आनंद (Enjoyment) जैसे सीमित अर्थ में बिल्कुल नही था। उनके लिए इस शब्द

एक अवस्था अलग हो जाती है। यह यथार्थ–आस्वादन से दूर आनंद - सिद्धांत (Pleasure principle)* का सर्वदा आश्रित हो जाता है। यह

का अर्थ था राहत का कोई ऐसा भाव (Feeling) जो भावात्मक पीड़ा (Emotional Pain) को राहत योग्य (Easing) बनाता है या किसी व्यक्ति के अवचेतन में उपस्थित तनाव को कम करता है।

अवचेतन मन की आकांक्षाऐं एवं माँगें जो बिल्कुल बालहठ की तरह हाती है, कोई नियम, आचार–नीति या पवित्र आचरण को नहीं जानती। हम जिस समाज में रहते हैं, उसमें क्या करणीय (Do's) है एवं किसका निषेध (Don't's) किया गया है– ये सब बातें इसके लिए अर्थहीन होती हैं। यह केवल अपनी इच्छा को जानती हैं। उसका लक्ष्य प्रेम, ध्यानाकर्षण, शक्ति–प्राप्ति या कुछ और भी हो सकता है।''

(All about psychoanalysis page-35)

आनंद–सिद्धांत का आश्रित होने के कारण 'id' का चरित्र भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। 'id' एक लैटिन शब्द है, जिसका प्रयोग फ्रायड ने अंग्रेजी 'it' के अर्थ में किया है यह हमारी तमाम लालसाओं, प्रवृत्तियों एवं आदतों का केन्द्र होता है। और यह हमेशा उनकी प्राप्ति एवं संतुष्टि की भूख को जाग्रत रखता है।

** यथार्थ–सिद्धांत (Reality Principle), आनंद सिद्धांत के विपरीत, सामाजिक नियम एंव कानून का सम्मान करनेवाला होता है, पूर्वोल्लेखित पुस्तक में ही जोसेफ़ रोज़नर (Joseph Rosner) लिखते हैं कि ''अवचेतन मन में आनंद–सिद्धांत द्वारा उद्दीप्त इच्छाऐं एक विरोधी शक्ति द्वारा रोकी जाती है, फ्रायड इसे यथार्थ - सिद्धांत (Reality Principle) कहते हैं। हम सभी इसी बल के सहारे अवचेतन में उत्पन्न नियमहीन माँगों को दमित करने या वश में करने की कोशिश करते हैं। यह बल उन इच्छाओं को जो आनंद–सिद्धांत के*

फंतासी–निर्माण की प्रक्रिया है, जिसकी शुरूआत बच्चे के खिलंदड़पन से हो चुकी होती है और बाद में दिवा–स्वप्न के रूप में लगातार कायम रहते हुए यथार्थ–जगत (Real object) पर अपनी निर्भरता का परित्याग कर देती है।''[५]

एक चिन्तन-प्रक्रिया के रूप में, एक सत्य के रूप में फंतासी की पहचान मनोविज्ञान में नया नहीं है। फ्रायड का मौलिक योगदान चिन्तन की इस अवस्था की उत्पत्ति (फंतासी की उत्पत्ति को आनंद-सिंद्धांत (Pleasure Principle) के

सहारे उपस्थित होती हैं एक नियमबद्ध एंव उत्तरदायी दुनियावी यथार्थ की आवश्यकता के अनुकूल व्यवस्थित करने का कार्य करता है।'' (Ibid, p. 36) क्योंकि ईगो (Ego) यथार्थ–सिद्धांत (Reality principle) का आश्रित होता है, इसलिए उसकी प्रवृत्ति भी यथार्थ–सिद्धांत की तरह ही होती है। रोज़नर यह भी मानते हैं कि Ego हम सबके भीतर निद्रावस्था में भी क्रियाशील होता है। जब हमारा कोई बेहद असंतुष्ट विचार स्वप्न में अपनी तीव्र आकांक्षा व्यक्त करता है, तब भी Ego प्रकट होकर उनकी इच्छाओं (अप्रयोजन्य) को ख़ारिज कर देता है। सुपर ईगो (Super Ego) एक ऐसी मानसिक प्रविधि (Machanism) है जो ''एक अभियंता या निर्देशक (Monitor) की तरह कार्य करते हुए ईगो (Ego) को सही राह पर चलने की प्रेरणा देता है। इसे यह अधिकार है कि यह ईगो को 'id' द्वारा प्रस्तुत तमाम प्रमत्त (Reckless) माँगों की पूर्ति करने के अपराध में दण्डित करे।'' (Ibid, p. 39) गलती करने पर उसका स्वीकार, बहुत कुछ ऐसा ही दण्ड है। माता–पिता एंव शिक्षकों से प्राप्त ज्ञान, धार्मिक विचार एंव दूसरे किस्म के अन्य नैतिक मानदण्डों द्वारा ही Super ego व्यक्ति के जीवन में समाहित होता है, इस तरह से यह एक अर्जित गुण है। फंतासी–निर्माण की प्रक्रिया उपर्युक्त मानसिक गतिविधि से सम्बद्ध होती है।

साथ दिखाने की कोशिश में है। 'यथार्थ सिद्धांत' की स्थापना दिमाग के विभाजन एवं उसके स्तरीकरण का कारण बनता है जो उसके पूरे विकास को निर्धारित करता है। प्लेज़र ईगो (Pleasure ego) में समन्वित रहनेवाली क्रिया फंतासी में अलग हो जाती है। इसकी मुख्यधारा यथार्थ-सिद्धांत (Reality Principle) की निधि के रूप में खण्डित होकर आवश्यकतानुरूप पंक्तिबद्ध हो जाती है। अनुकूलित होकर मस्तिष्क का यह हिस्सा मनमौजी की तरह व्यवहार करता है। यथार्थ क्या है? इसका उपयोग कैसे होना चाहिए? यथार्थ का परिवर्तन किस तरह होता है? इन सभी प्रश्नों के निर्धारण में यह मनमौजीपन कार्यरत होता है। दिमाग़ी उपकरण का दूसरा हिस्सा अशक्त होने की कीमत पर यथार्थ–सिद्धांत (Reality Principle) क नियंत्रण से बाहर ही रहता है। ईगो प्रारम्भ में जहाँ इसकी पूरी मानसिक ऊर्जा से निर्देशित एवं गतिशील होता था, अब केवल यथार्थ–सिद्धांत (Reality Principle) के नियंत्रण में रहनेवाले हिस्से से नियंत्रित होता है। इस तरह एक विच्छिन्न मानसिक प्रक्रिया के रूप में फंतासी का जन्म होता है जो 'प्लेजर ईगो' (Pleasure ego) के समुच्चय द्वारा 'रियलिटी ईगो' (Reality ego) के रूप में पीछे छोड़ दी जाती है। यह फंतासी केवल आनंद–सिद्धांत (Pleasure ego) की भाषा बोलती है। फंतासी मुक्त मन की, निग्रह एवं दमन-रहित मन की अभिव्यक्ति होती है। फ्रायड ने फंतासी को दिवा–स्वप्न या कल्पना से जोड़कर देखने की कोशिश की है। अपने शारीरिक विकास के क्रम में एक बढ़ता हुआ बच्चा व्यस्क होकर खेलना बन्द कर देता है। खेल को छोड़ना यथार्थ–जगत् से अपने जुड़ाव को मजबूत करना है। खेल के बन्द होने पर वह फंतासी की रचना शुरू करता है। वह बच्चा वयस्क होकर हवा–महल बनाना शुरू कर देता है, यह मूलत: दिवा-स्वप्न है। फ्रायड विश्वास व्यक्त करते हैं कि मानव-समुदाय का एक बड़ा हिस्सा अपनी जीवनावधि में फंतासी की रचना करता है।

दिवा-स्वप्न में तल्लीन रहनेवाले लोगों के लक्षणों के अध्ययन से फ्रायड ने यह निष्कर्ष निकाला कि *''खुश इंसान फंतासी कभी नहीं बनाता है। केवल असंतुष्ट इंसान ही ऐसा करता है। असंतुष्ट इच्छाऐं फंतासी की प्रेरक शक्ति होती हैं।''*[8]

मनुष्य स्वयं के प्रति उदारमना होता है। वह स्वयं को पीड़ित नहीं रख सकता। मनुष्य इच्छाओं का पुंज होता है। वह इच्छाओं के वशीभूत गतिशील रहता है। उसकी चेतना प्रत्येक अभाव एवं निग्रह के विरूद्ध प्रतिक्रिया देती है। मनुष्य की पीड़ा का कारण अभाव एवं अभाव से मुक्त होने की इच्छा का द्वन्द्व है। आनन्द सिद्धांत (Pleasure Principle) एवं यथार्थ सिद्धांत (Reality Principle) का द्वन्द्व वस्तुतः इसी अभाव एंव अभाव से मुक्त होनेवाली इच्छा का द्वन्द्व है। आनंद सिद्धांत (Pleasure Principle) एवं यथार्थ सिद्धान्त का यह द्वन्द्व परस्पर श्रेष्ठता स्थापित करने का द्वन्द्व नही बल्कि जीवन में जो मूल्यवान है, उसे बचाने का प्रयत्न है। उपर्युक्त लेख में फ्रायड लिखते हैं— *''इच्छा एलेजर ईगो के रूप में कुछ नहीं कर सकती, परन्तु वह एक साथ आनंद प्रदान करने एवं दर्द के निवारण का कार्य करती है। इस तरह Reality ego (रियलिटी ईगो) को कुछ करने की आवश्कता नहीं होती लेकिन वह, जो उपयोगी है, उसे बचाने का काम करता है एवं नष्ट होने से उसकी रक्षा करता है। ...दरअसल, आनंद-सिद्धांत के लिए यथार्थ—सिद्धांत की प्रतिस्थापना आनंद—सिद्धांत के बलात् विस्थापन की नहीं बल्कि इसकी सुरक्षा की सूचना है।''*[9] एलेजर ईगो के रूप में इच्छा सचमुच कुछ नहीं कर सकती परन्तु अभाव एंव निग्रह से मुक्त होने में सुखदायी जरूर है। मनुष्य का यह अभाव भौतिक जगत् से भी जुड़ा हो सकता है और स्वयं उसकी जैविक बनावट से भी। यह अभाव उसकी अतृप्त काम—लालसा भी हो सकती है और कलात्मक अभिव्यक्ति का एहसास भी। तात्पर्य यह कि अभाव का अन्त नहीं हो सकता और इच्छाओं की इति नहीं, परिणामतः फंतासी—निर्माण की सम्भावना भी

समाप्त नहीं हो सकती। सम्भवत: प्रत्येक एकल फंतासी एक आकांक्षा की सम्पूर्ति — एक असंतुष्ट यथार्थ का प्रच्छालन या विरेचन है।

परन्तु, फंतासी क्या केवल अचेतन की अभिव्यक्ति है, जैसा कि इनसाइक्लोपेडिया... कहता है? अगर हाँ! तो कलात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में उसकी उपस्थिति का लाभ क्या है? अगर हाँ! तो फंतासी मनोविज्ञान की सीमा के बाहर, रचनात्मकता के क्षेत्र में अपनी उपयोगिता किस तरह सिद्ध करती है!

एक रचनाकार विशिष्ट स्थिति में, जिसे उसकी रचनात्मक प्रतिभा सम्भव बनाती है, अपनी फंतासी का यथार्थ से जुड़ाव करता है। फ्रायड मानते हैं कि एक कलाकार वास्तव में यथार्थ से दूर होता है। तात्पर्य यह कि कलाकार आनंद–सिद्धांत (Pleasure Principle) के अधीन, अपनी कला की विशिष्ट दुनिया में तल्लीन रहता है। एक कलाकार यथार्थ से दूर क्यों होता है? फ्रायड कहते हैं, *''क्योंकि वह स्वाभाविक संतुष्टि का आत्मत्याग नहीं कर सकता, जो उसकी प्राथमिक जरूरत है। वह फंतासी युक्त जिन्दगी में अपनी श्रृंगारिक भावनाओं एंव महत्त्वाकांक्षाओं की सम्पूर्ति की गुंजाइश पैदा करता है... यद्यपि फंतासी की इस दुनिया के माध्यम से वह अपनी फंतासी को एक नये प्रकार के सत्य में ढ़ालता है, जिसका मूल्यांकन मनुष्य वास्तविक जीवन के उत्कृष्ट प्रतिभासित रूप में करता है।''*[८] फ्रायड के इस कथन का निहितार्थ यही हो सकता है कि कला प्रथमत: पलायन है और उस आदर्श संसार में जहाँ हर कोई यथार्थ-सिद्धांत के माध्यम से आनंद–सिद्धांत के विस्थापन में पूर्ण–रूपेण परिपक्व होते हैं, वहाँ कला के लिए कोई जगह नहीं होगी।

'फ्रायड एण्ड ह्यूमिनिटिज' में एन्थोनी स्टोर (Anthony Storr) फ्रायड के स्वप्न–सिद्धांत संबंधी अवधारणा पर भी विचार करते हैं। फ्रायड का स्वप्न–सिद्धांत यह दावा करता है कि प्रत्येक स्वप्न किसी आकांक्षा की पूर्ति की कोशिश है। प्रत्येक स्वप्न किसी-न-किसी इच्छा की वे चाहे शैशव काल की हो या वर्त्तमान जीवन की, पूर्ति करते हैं। ये इच्छाऐं असंतोष का ही हिस्सा

होती हैं, जो पृथक रूप में प्रदर्शित होती हैं। फ्रायड के अनुसार ये इच्छाऐं दमित होती हैं। एन्थोनी स्टोर कहते हैं कि फ्रायड का यह स्वप्न–सिद्धांत खेल एवं फंतासी की तरह ही पलायनवाद है परन्तु एक कलाकार की कलात्मक अभिव्यक्ति, जिसे फ्रायड फंतासी कहते हैं, बिल्कुल उसी स्वप्न की अभिव्यक्ति जैसा है, जिस तरह मन की अभुक्त कामनाऐं स्वप्न में अपनी अभिव्यक्ति पाती हैं। एन्थोनी टोर ने जुंग को उल्लेखित करते हुए लिखा है, *''कविता मनुष्य के संप्रेषण का एक दूसरा प्रकार है, जिसमें प्रतीक एवं रूपक प्रभावी भूमिका निभाते हैं, लेकिन अधिकांश कविता इसी तरह चालाकी से किया गया कोई छिपाव नहीं है।''*[8]

फंतासी की कलात्मक अभिव्यक्ति के स्वरूप को फ्रायड ने केवल असंतुष्ट इच्छाओं की सम्पूर्ति के रूप में देखने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इस तथ्य को प्राय: ओझल कर दिया कि कला में फंतासी अवचेतन के बेहद गहरे स्तर का जुड़ाव चेतन की उच्चतम दशा से करती है। स्वप्न को यथार्थ से जोड़ती है। यह सामूहिक अथवा व्यक्तिगत स्मृति से जुड़े सनातन विचारों को संरक्षित करती है। फ्रायड कला एंव फंतासी के आनुषंगिक जुड़ाव के कारण कला को दमन की सबसे दृश्य प्रतिक्रिया मानते हैं ऐसा केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी सम्पूर्ण इतिहास के स्तर पर भी। फ्रायड से सुर मिलायें तो कहना होगा कि रचनात्मक कल्पना मुक्ति की टूट चुकी आकांक्षा एवं खण्डित भ्रमयुक्त आशा की अवचेतन स्मृति को आकार प्रदान करती है। Performance Principle के अधीन कला दमन का विरोध करती हुई मनुष्य की एक मुक्त छवि गढ़ती है। परन्तु इस तरह कला मुक्ति की छवि को केवल बंधन के प्रतिवाद के रूप में ही स्थापित कर सकती है।

फ्रायड के बाद की पीढ़ी में आनेवाले मनोविश्लेषकों में महत्त्वपूर्ण जुंग इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं। उन्होंने फंतासी को केवल अचेतन अभिव्यक्ति तक सीमित न मानकर उसकी परिधि को विस्तृत रूप में स्वीकार

करने की सिफ़ारिश की है। जुंग ने फ्रायड के मुक़ाबले कल्पना की सहधर्मी ताक़त पर अधिक बल दिया है। हर्बर्ट मार्क्स जुंग के एतद्संबंधी विचारों को इस तरह सूत्रबद्ध करते हैं, *''फंतासी सभी तरह के मानसिक क्रियाकलापों से अखण्ड रूप से जुड़ी होती है। ...फंतासी सभी रचनात्मक कर्म से उपर होती है। यह उन सभी सम्भावनाओं की माँ है जिसमें तमाम मानसिक भिन्नताऐं,साथ ही आन्तरिक एंव बाह्य संसार के संघर्ष एकमेक होते हैं। फंतासी व्यक्ति (Objects) एंव आत्म (Subjective) की प्रतिकूल माँगों तथा बहिर्मुखता एवं अन्तर्मुखता के बीच पुल बनाने का कार्य करती है। यह केवल अपने असामान्य सुनहले अतीत को ही नही देखती बल्कि आगे बढ़कर अचरितार्थ (Unrealized) एवं अननुभूत सम्भावनाओं को भी देखती है। ...कल्पना का सच्चा मूल्य केवल अतीत से ही नहीं बल्कि भविष्य से भी जुड़ा होता है।''*[१०]

फ्रायड के बाद के मनोविश्लेषकों में एक नाम जैक्स लकाँ का भी है। लकाँ 'फ्रांसीसी फ्रायड' के नाम से भी मशहूर हैं। अवचेतन की संरचना का फंतासी से आधारभूत जुड़ाव होता है। अवचेतन की संरचना को लेकर लकाँ की अवधारणा फ्रायड से भिन्न है। फ्रायड अवचेतन को भाषा–पूर्व से अस्तित्ववान मानते हैं। लकाँ अवचेतन की संरचना को लेकर अलग अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि अवचेतन की संरचना भाषा की तरह होती है लेकिन यह स्वयं भाषा का उत्पाद है।

अब तक फंतासी के स्वरूप एंव कलात्मक अभिव्यक्ति में उसकी सम्भावनाओं पर विचार गया। विचारोपरांत स्पष्ट होता है कि इसका व्यक्ति की मनोसंरचना से गहरा जुड़ाव होता है। यह मानसिक स्तर पर असंतुष्ट मानवीय एषणाओं को संतुष्ट करती है, साथ ही कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में मनुष्य के आत्मनिष्ठ संसार से बाह्य का सम्मिलन करते हुए अभिव्यक्ति का विराट फलक भी निर्मित करती है। फंतासी का वैयक्तिकता से जितना गहरा नाता है,

उतना ही बाह्य के आभ्यंतरीकरण से भी। इसीलिए कला की आत्मनिष्ठा अपनी सम्पूर्ण व्याख्या के लिए प्राय: बाह्य संसार का मोहताज होती है।

फंतासी का वैयक्तिकता एंव बाह्य संसार के अलावा एक और महत्वपूर्ण संबंध काल से होता है। फ्रायड लिखते हैं— *''फंतासी प्रथमत: समय की तीन अवधि में — विचार के तीन आवर्त्त (Periods) में चक्कर काटती है, मानसिक स्तर पर फंतासी का कार्य वर्त्तमान समय की किसी विशिष्ट घटना, जिसमें बेहद भाव–प्रवण आकांक्षा को चौकन्ना कर देने की शक्ति होती है से जुड़ा होता है। वहाँ से ये विचार किसी प्रारम्भिक अनुभव जो प्राय: शैशवावस्था से जुड़े होते हैं, की ओर लौटते हैं। उसके बाद यह स्वयं एक ऐसी स्थिति निर्मित करता है जो बाद में आकांक्षाओं की पूर्ति के रूप में उभरता है।''*[११] इस सन्दर्भ में मुक्तिबोध की अवधारणा भी द्रष्टव्य है: *''कला का पहला क्षण है, जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते–दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है।''*[१२] फ्रायड जिसे वर्त्तमान समय की किसी विशिष्ट घटना से मानसिक जुड़ाव कहते हैं, वहीं मुक्तिबोध के यहाँ जीवन का उत्कट अनुभव क्षण है। जीवन–जगत् का बोध जितना तीव्र होता है, हमारी संवेदना उतनी ही तीव्रता से क्रियाशील होती है और संवेदना की क्रियाशीलता का प्रक्षेप मनुष्य की कल्पक वृत्ति में होता है, फ्रायड इसीलिए कहते हैं कि वर्त्तमान समय की घटना का बोध हमारी भाव प्रवण आकांक्षा को चौकन्ना कर देने की शक्ति से लैस होना चाहिए। क्योंकि यह शक्ति ही हमारी कल्पनाशीलता की प्रेरणा बनती है। कहना न होगा कि फ्रायड इसी प्रथम क्षण

या प्रथम आवर्त्त से फंतासी के निर्माण की प्रक्रिया पर जोर देते हैं। मुक्तिबोध के चिन्तन में इस प्रक्रिया की शुरूआत दूसरे क्षण से मानी गई है। यहाँ मुक्तिबोध एंव फ्रायड के चिन्तन में परस्पर विरोध दिखाई देता है, परन्तु आगे चलकर, इस विरोध को स्वयं मुक्तिबोध ने ही समाप्त कर दिया और फ्रायड के मन्तव्य से मेल खाता हुआ एतद् संबंधी विचार प्रस्तुत किया। 'तीसरा क्षण' में मुक्तिबोध ने यह स्थापना प्रस्तुत की है जैसा कि पूर्व-उद्धृत कथन से स्पष्ट होता है— कल्पना दूसरे क्षण में सक्रिय होकर फंतासी खड़ी करती है, क्योंकि इसी क्षण में जीवन का अनुभव अपने कसकते मूलों से अलग होकर फंतासी का रूप धारण करती है। लेकिन 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' शीर्षक लेख में उन्होंने रचना—प्रक्रिया में कल्पना के कार्यों का रेखांकन करते हुए एतद्संबंधी अपनी धारणा में परिवर्त्तन करते हुए लिखा कि कल्पना का कार्य भी पहले क्षण से ही शुरू हो जाता है। दूसरे क्षण में कल्पना—शक्ति उद्दीप्त होकर संवेदना से युक्त मूल तत्त्व को समान अनुभवों और जीवन—मूल्यों से संवलित करते हुए एक संश्लिष्ट जीवन—चित्रशाला उपस्थित कर देती है। वे लिखते हैं— *''तरंगायित होकर जब अन्तर्तत्व मानसिक दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो उठते हैं तभी उनमें रूप आ जाता है अर्थात् कल्पनाबिम्ब या स्वर या प्रवाह से वे संवृत हो उठते हैं; कल्पना का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। बोधपक्ष अर्थात् ज्ञानवृति भी यहाँ सक्रिय हो उठती है। यह उद्घाटन क्षण है— यह कला का प्रथम क्षण है...।''*[१३] कला का तीसरा क्षण या तीसरा आवर्त जैसा कि फ्रायड कहते हैं, आकांक्षाओं की पूर्त्ति का रूप धारण करता है। मुक्तिबोध इसे ही फंतासी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का प्रस्थान बिन्दु मानते हैं। निश्चितरूपेण फंतासी—निर्माण की यह अवधारणा एक—दूसरे की मान्यताओं को भिन्न—भिन्न शब्दों में पुष्ट एवं प्रभावपूर्ण बनाते हैं, परन्तु इस से फंतासी—निर्माण की व्याख्या न तो पूर्ण होती है और न ही शिल्प और संवेदना के अन्तर्सम्बन्ध पर इस से प्रकाश पड़ता है। फंतासी के शिल्प में कला की

अभिव्यक्ति का प्रेरक तत्त्व क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भी इस से प्राप्त नहीं होता। मुक्तिबोध ने अपने आलोचकीय कर्म में इन सवालों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। फंतासी के स्वरूप स्पष्ट करने एवं एक शिल्प के रूप में फंतासी की व्याख्या के लिए उन प्रयत्नों पर दृष्टिपात आवश्यक प्रतीत होता है।

काव्य की रचना–प्रक्रिया बेहद जटिल होती है। वस्तुतः मनुष्य की मनोसंरचना इतनी गुम्फित और उलझी हुई है कि उसकी क्रियाशीलता को सही क्रम में विश्लेषित करना मुश्किल प्रतीत होता है शायद, इसलिए जटिल भी। रचना–प्रक्रिया और मनोसंरचना का गहरा संबंध होता है। इस जटिलता को तीन क्षणों या आवर्तों में बाँटकर देखना केवल सरलीकरण हो सकता है, सही व्याख्या नहीं। अगर फंतासी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया इतनी आसान होती तो उसे सचमुच वैसा ही होना चाहिए जैसा कि कल्पना के स्तर पर वह पहली बार स्वरूप ग्रहण करती है परन्तु ऐसा होता नहीं। फंतासी इन्द्रियबोधात्मक रूप ग्रहण करने के क्रम में इतना परिवर्तित हो जाती है कि मूल से उसके संबंध को सही रूप में पकड़ पाना काफी मुश्किल हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? क्या 'तीसरा क्षण' – जिस में फंतासी रूपाकृति ग्रहण करती है, सचमुच क्षणिक होता है? शायद नहीं। यह 'तीसरा क्षण' वस्तुतः एक लम्बी प्रक्रिया है, जिसमें रचनाकार का मन विकलता से कुलाँचे भरता रहता है। फंतासी को स्वरूप प्रदान करते हुए रचनाकार का मन चिन्तन की प्रक्रिया से मुक्त नहीं रहता है। अगर ऐसा हो जाता तो कला के रूप में फंतासी का महत्त्व दौ कौड़ी का होता और यह केवल कवि का भ्रम होता कि वह जैसा सोचता है, अपनी सोच एवं एहसास के प्रति उसका जैसा ममत्व भाव है, वैसा ही ममत्व भाव अन्य का भी उसकी सोच एवं एहसास के प्रति होगा। फंतासी में पड़े हुए सामान्य आदमी के साथ ऐसा ही होता है। फ्रायड 'द रिलेशन ऑव द पोएट टू डे–ड्रिमिंग' (The relation of the poet to day-dreaming) नामक निबंध

में स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि फंतासी में आनंदानुभूति प्रदान करने की क्षमता विशिष्ट साहित्यिक प्रतिभा से आती हैं– *"... एक दिवा स्वप्न द्रष्टा अपनी फंतासी को सावधानीपूर्वक दूसरों से छिपाता (Hid) है, क्योंकि उसमें उसके शर्म का कारण मौजूद होता है। ...यदि वह उसका जिक्र हम से करता है, तो ऐसा करके वह हमें कोई आनंद नहीं दे सकेगा। हम जब कभी इस तरह की फंतासी का ज़िक्र सुनते हैं, वे हमें घृणित (Repel) प्रतीत होती हैं या अन्ततः हमें ठण्डा छोड़ देती हैं। परन्तु जब किसी व्यक्ति में अपने कल्पनात्मक विलास (Plays) या निजी दिवा–स्वप्न–संबंधी किसी बात को प्रस्तुत करने की साहित्यिक प्रतिभा होती है तो इसमें आनंदानुभूति प्रदान करने की प्रबल संभावना आ जाती हैं।'*[१४] फंतासी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में जो महत्त्पूर्ण बदलाव आते हैं उसका कारण वह साहित्यिक प्रतिभा है, जो फंतासी को आनंदानुभूति प्रदान करने की क्षमता से लैस करती है। 'कामायनी' की व्याख्या मुक्तिबोध ने उसे एक फंतासीपरक काव्य–रचना मानकर की है। उन्होंने 'कामायनी' की फंतासी पर विचार करते हुए लिखा है कि *"जिस प्रकार एक फैण्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन–समस्याओं का, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन–स्थितियों का प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार कामायनी में भी हुआ है।'*[१५] 'कामायनी' या अन्य किसी भी दूसरी फंतासी के बारे में मुक्तिबोध की यह मान्यता उचित प्रतीत होती है, परन्तु कामायनी का औदात्य और आनंद प्रदान करने की क्षमता केवल 'इच्छित विश्वासों' एवं 'इच्छित जीवन स्थितियों' के प्रक्षेप के कारण ही विशिष्ट नहीं है। फंतासी में जैसा कि मुक्तिबोध स्वयं कहते हैं– *"संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संदेनदाऐं रहती हैं। कृतिकार को लगातार महसूस होता रहता है कि उसका अनुभव सभी के लिए महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है।'*[१६] परन्तु केवल कृतिकार का एहसास ही महत्त्पूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है फंतासी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में उसके अपने मूल से पृथक होते जाने की निरंतरता। एक साहित्यकार

की विशिष्ट साहित्यिक प्रतिभा फंतासी में कैसा परिवर्त्तन करती हैं मुक्तिबोध ने इस पर भी विचार किया है। 'तीसरा क्षण' में इसका एक कारण तो मुक्तिबोध ने स्वयं बतलाया है परन्तु दूसरा महत्त्पूर्ण कारण उन्होंने अपने काल्पनिक मित्र केशव के माध्यम से प्रस्तुत किया है। फंतासी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में उसके बदलते जाने का कारण उसके साथ चिन्तन की प्रक्रिया का लगातार बने रहना है। इसके कारण फंतासी गतिशील रहती है। मुक्तिबोध लिखते हैं— *''फैन्टेसी गतिहीन स्थिर चित्र नहीं है। उद्देश्य एवे उद्देश्य की दिशा के कारण ही वह गतिमय है।'*[१७] फंतासी का उद्देश्य उसकी प्रधान पीड़ा है, जिसकी अभिव्यक्ति की आकुलता साहित्यकार के अंदर मौजूद रहती है। *''ज्यों ही फैन्टेसी शब्दबद्ध होने लगती है, फैन्टेसी का भावात्मक उद्देश्य या कहिए कि फैण्टेसी की प्रधान पीड़ा अपना समर्थन, संरक्षण और पोषण करनेवाले अन्य जीवनानुभवों के तत्त्वों को समेटने लगती है। ...इन जीवनानुभवों के चित्र, भाव और स्वर फैण्टेसी के मर्म में घुलने लगते हैं। फैण्टेसी की गतिमानता की धारा में प्रवाहित होकर उस धारा को अधिक सार्थक और पुष्ट करते हैं।'*[१८] यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक उस प्रधान उद्देश्य या पीड़ा का ओज कायम रहता है, ओज के समाप्त होते ही फंतासी की गति स्थिर होने लगती है और उद्देश्य अपने उत्कर्ष पर पहुँचकर शांत होने लगता है। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में फंतासी के बदलने का एक अन्य कारण 'केशव' ने अपने दोस्त (मुक्तिबोध) को लिखकर भेजा था *''...भाषा सामाजिक निधि है। शब्द के पीछे एक अर्थ परम्परा है। ये अर्थ जीवनानुभवों से जुड़े हुए हैं। फैण्टेसी अपने अनुकूल शब्दों में स्थित अर्थ स्पन्दन को उद्बुद्ध करती है। इन शब्दों के ढ़ाँचों में फैण्टेसी को फिट करना पड़ता है, इसीलिए फैण्टेसी का मौलिक वेग काफी कट—छँट जाता है। शब्दों के पीछे की अर्थ—परम्परा फैण्टेसी के मूल रंगों को छाँट देती, उसके आकार में परिवर्त्तन कर देती है, उसकी मौलिक गहनता अर्थात् व्यक्तिगत सन्दर्भ को तराश देवी है।'*[१९] 'तीसरा क्षण' में फंतासी के निर्माण की गतिशीलता एवं गतिशीलता के कारण होनेवाले

परिवर्त्तन की निरंतरता के जो कारण बतलाये गये हैं उसके इतर एक अन्य कारण, जो फंतासी में परिवर्त्तन के लिए उत्तरदायी होता है, वह है साहित्यकार की मिथकीय चेतना, उसके द्वारा प्रस्तुत किये गये रूपक, बिम्ब, प्रतीक आदि से संबंधित प्रयोग वैशिष्ट्य। फंतासी का शिल्प नितांत वैयक्तिक होता है। विषय–वस्तु नितांत निजतापूर्ण भी हो सकती है एवं यथार्थजन्य भी। फंतासी के शिल्प में केवल भाव-पक्ष का ही चित्रण होता है, उसका विभावपक्ष गौण रहता है। भाववादी या वैयक्तिक शिल्प की यह विशेषता है कि उस से प्रकट होनेवाली भाव–स्थितियाँ ही विभाव–स्थिति का पता देती है। एक तो भावपक्ष का महत्त्वपूर्ण हो उठना, दूसरा उपमा, रूपक, बिम्ब आदि का निजत्व बोध से प्रेरित होकर फंतासी के रूप में ढलना, एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें फंतासी का अपने मूल से स्वतंत्र दिखना अनिवार्य हो जाता है। मुक्तिबोध लिखते हैं– *''फैण्टेसी में विभाव–पक्ष के कल्पना बिम्ब प्रतीकात्मक होकर अपनी मूल भूमि से इतने दूर जा पड़ते हैं कि वे विभाव–पक्ष का भूगोल और इतिहास छोड़कर उसका दिक्काल त्यागकर, अपना एक स्वतंत्र भूगोल और इतिहास, अपना स्वतंत्र दिक्काल स्थापित कर लेते हैं।'*[२०]

फंतासी की इस गतिमयता का परिणाम यह होता है कि कभी–कभी उसके द्वारा प्रस्तुत जीवन तथ्य को पहचानना मुश्किल लगने लगता है, कभी–कभी उसकी पहचान साहित्यकार की अनुभूत जीवन–समस्याओं या इच्छित विश्वासों के विपरीत रूप में भी की जा सकती है। फंतासी में वैयक्तिकता एवं सर्वता का जैसा तनावपूर्ण संयोजन होता है, कल्पना बिम्बों का जैसा समाहार होता है, उसमें से यथार्थ को अलग हर पाना बेहद जटिल और सिर:शूल पैदा कर देनेवाला कर्म है। फंतासी क्रिया–प्रतिक्रिया की जटिल बुनावट होती है। यह क्रिया–प्रक्रिया उस यथार्थजन्य तथ्य के उद्‌घाटन में महत्त्वपूर्ण होती है, जो फंतासी के शिल्प में अत्यन्त गौण होता है। मुक्तिबोध लिखते हैं *''...फैण्टेसी के रूप में जो कथा प्रस्तुत होती है, और कथा के*

अन्तर्गत जो पात्र, चरित्र और कार्य प्रस्तुत होते हैं वे सब प्रतीक होते हैं, वास्तविक जीवन तथ्यों के। यही कारण है कि फैण्टेसी का चित्रण करते हुए लेखक पात्रों, चरित्रों और उनके कार्यों के बारे में अनेकानेक ऐसी बातें कह जाता है कि जो बातें पात्र–चरित्र और पात्र–कर्म के भीतर से उद्‌गत नहीं होतीं — नहीं हो सकतीं क्योंकि वस्तुत: वे उन चरित्रों और कार्यों का अंगभूत नहीं हैं।'[२१] असल में फंतासी के तथ्यों के प्रतीक रूप में प्रस्तुत कार्य, चरित्र या पात्रों के बारे में की गई लेखक की टिप्पणी या उन से संबंधित क्रिया–प्रतिक्रिया का संबंध फंतासी के स्वरूप को उद्‌घाटित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। फंतासी के भीतर विसंवादी स्वर की तरह दिखलाई पड़नेवाली घटनाऐं, प्रतिक्रिया या परिवेश कवि या लेखक के मानसिक क्रमभंग की सूचना नहीं होती, उसका फंतासी के शिल्प से जुंड़ाव होता है। इस तथ्य को ओझल कर फंतासी का विश्लेषण नहीं किया जा सकता इसका उदाहरण मुक्तिबोध की फंतासी का किया गया वह विवेचन है, जिसमें डॉ. रामविलास शर्मा ने कवि में सिज़ोफ्रेनिया के लक्षण दिखलाये हैं।

मुक्तिबोध की फंतासी का ध्वन्यर्थ उनके समय में मौजूद है। काल की गति को पकड़कर, व्यवस्था के आडम्बरों और विद्रूपताओं को पहचानकर, बुद्धिजीवियों की बेचैनी महसूस कर उसकी जैसी कलात्मक अभिव्यक्ति मुक्तिबोध ने अपनी फंतासी में की है, उस से यह प्रतीत होता है कि फंतासी केवल शैल्पिक प्रयोग या अपने को विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त करने की लालसा का परिणाम नहीं बल्कि बहुत हद तक प्रतिरोध के विरूद्ध आवाज उठाने का हथियार भी था। फंतासी सचमुच में साहित्य के भीतर एक नाटकीय कौशल की साध है। अगर ध्यानपूर्वक अवलोकन किया जाय तो हमारी जिन्दगी में ही घटनाऐं कभी नियोजित या तार्किक रूप में घटित नही होती। सड़क पर चलते हुए आदमी और दुकान में बैठे दुकानदार के मस्तिष्क में विचारों का कैसा प्रवाह चल रहा है, उसका आकलन और कविता में बिल्कुल उचित शाब्दिक प्रयोग से उसका विपयर्य–मात्र उपस्थित कर देना कठिन शब्द–साधना

के बग़ैर असम्भव है। यह केवल अनुमान का विषय हो सकता है कि जब चीजें विपर्यस्त हों तब उसका सही–सही एवं प्रभावपूर्ण संप्रेषण कैसे किया जाय? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसका सीधा संबंध अभिव्यक्ति के उपकरण अर्थात् शिल्प से हैं। बाहर से सरल दिखाई पड़नेवाली दुनिया बेतरतीब घटनाओं, सम्भावनाओं और विचारों का पुंज है। फंतासीविहीन कला इन विपर्यस्त चीजों को सरल रूप में संप्रेष्य बनाने का काम करती है। फंतासी इस सरलीकरण के समांतर एक भिन्न किस्म का शिल्प है। सरलीकृत कलात्मक अभिव्यक्ति में कलाकार की संतुष्टि जब अपना समाधान नही ढूँढ पाती, तब वह फंतासी की ओर प्रवृत होती है। कवि राजेश जोशी ने सही माना है कि *''फैण्टेसी एक आलोचकीय अंत:करण की अभिव्यक्ति का शिल्प है, तीव्र आलोचकीय बाध्यता ही एक खास समय में फैंण्टेसी की ओर जाने का रास्ता प्रशस्त करती है। ऐसा लगता है कि जब 'आलोचनात्मक कार्रवाई' के लिए समाज में और रचना में स्पेस कम होने लगता है या असम्भव हो जाता है तो रचना अपने लिए फैण्टेसी का रास्ता तलाश करती है।'*[२२]

'आलोचनात्मक कार्रवाई' के लिए 'स्पेस' की खोज कलाकार की संतुष्टि से जुड़ा हुआ मामला है, यह एक तरह से कलाकार की बाध्यता है। कला में भावों की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए, संप्रेषण की राह के अवरोधों से मुक्त होने के लिए एवं अपनी 'संतुष्टि के आत्म–त्याग' से बचने के लिए कलाकार फंतासी की रचना करता है।

फंतासी को मनुष्य की आलोचकीय बाध्यता से जोड़कर देखने के कारण कवि राजेश जोशी इसकी परिधि को विस्तार नहीं दे पाते। हालाँकि वे मानते हैं कि *''फैण्टेसी एक ऐसा सब्जेक्टिव फॉर्म है जो खास समय में ऑब्जेक्टिव रियलिटी को, वस्तुनिष्ठ यथार्थ को व्यक्त करने में सब से ज्यादा समर्थ होता है।'*[२३] परन्तु फिर भी 'असाध्य वीणा' को 'अपवाद की तरह' स्वीकार करते हैं– *''असाध्य वीणा वात्स्यायनजी के कविता संसार में लगभग अपवाद की तरह है। वह एक दार्शनिक निष्कर्ष को पाने के लिए रची गई एक रूपक कथा*

ही ज्यादा लगती है। वात्स्यायनजी का मानस एक आलोचक मानस नहीं है। हमारे जीवन की विडम्बना और विरोधाभासों, व्यवस्था के अँधेरे कोने–कुचालों को देखने–दिखाने की उत्कट इच्छा उनकी कविता में कम ही है, कम से कम मुक्तिबोध की तरह तो बिल्कुल ही नहीं है। इसलिए फैण्टेसी मुक्तिबोध के लिए बाध्यता है और वात्स्यायनजी के लिए मात्र एक प्रयोग।'[२४] असल में फंतासी केवल उस तरह की बाध्यता नहीं है, जैसी बाध्यता मुक्तिबोध की कविता में दिखलाई पड़ती है। स्वयं मुक्तिबोध ने 'कामायनी' की व्याख्या फंतासी मानकर की है, परन्तु क्या जयशंकर प्रसाद के लेखन और मुक्तिबोध के लेखन में बाध्यता का स्वरूप समान है, जबकि 'कामायनी' में मुक्तिबोध ने कवि की बाध्यता ही लक्षित की है, कुछ और नहीं। इसके अलावा विनोद कुमार शुक्ल का उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' भी एक फंतासी परक औपन्यासिक कृति ही है। शुक्ल जी में भी वैसी बाध्यता कहीं नहीं है जैसी मुक्तिबोध के यहाँ दिखाई पड़ती है। हिन्दी साहित्य में फंतासी बहुत कम लिखी गई है। जो रची गई हैं उनमें भी अधिकांश मुक्तिबोध की है, शायद इसीलिए इस किस्म का विचार सामने आया कि फंतासी विशेष किस्म की बाध्यता के कारण निर्मित होती है। फंतासी को लेकर ऐसी अवधारणा, जो कवि राजेश जोशी ने व्यक्त की है, केवल मुक्तिबोध की फंतासी के आधार पर स्वीकार की जा सकती है वरना बाध्यता का संबंध कलाकार की असंतुष्टि से है और वह किसी भी किस्म की हो सकती है। शिल्प के स्तर पर फंतासी कई प्रकार की सुविधाएँ भी प्रदान करती है, जैसा कि मुक्तिबोध मानते हैं– *''एक तो यह कि जिये और भोगे गये जीवन की वास्तविकताओं के बौद्धिक अथवा सारभूत निष्कर्षों को अर्थात् जीवन ज्ञान को (वास्तविक जीवन–चित्र उपस्थित न करते हुए) कल्पना के रंगों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार की ज्ञानगर्भ फैण्टेसी वास्तविक जीवन ही का प्रतिनिधित्व करती है। लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है।'*[२५] यह एक प्रीतिकर आश्चर्य है कि कल्पना के रंगों में प्रस्तुत होने के कारण फंतासी रचनाकार को

वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बचा लेती है परन्तु स्वयं मुक्तिबोध की फंतासी की प्रदीर्घता विस्मित का देनेवाली है। यह एक मोहक कल्पना होगी कि यदि मुक्तिबोध ने फंतासी का उपयोग न किया होता तो उनकी कविता का आकार कैसा होता। पर बहरहाल! इतना तो निश्चित है कि फंतासी में स्वप्न, बिम्ब, मिथक, रूपक, कायान्तरण, आत्म–प्रसारण, स्मृति की सघनता, वर्णन की अतर्क्यता आदि के माध्यम से यथार्थ के प्रदीर्घ चित्रण से बचा जा सकता है। कवि बिना किसी पूर्वसूचना या प्रसंग के इच्छित वर्णन बिम्बों के सहारे उपस्थित करता चलता है। बिम्ब प्रयोग की यह उन्मुक्तता कवि को इतनी सुविधा तो प्रदान करती ही है कि वह विविध रंगों, ध्वनियों, चित्रों एवं प्रतिमाओं के माध्यम से अपने भावों को अधिकाधिक इन्द्रिय-ग्राह्य और बोधगम्य बना सके। क्योंकि बिम्ब मूलतः अमूर्त्त भावों को इसी तरह मूर्त्तता प्रदान करता है। बिम्ब कुहरिल विचारों, स्वप्न की अटपटी आकांक्षाओं और अनगढ़ इच्छित विश्वासों को अधिकाधिक संप्रेषणीयता प्रदान करता है। अपने शिल्प में प्रधानतः कल्पनात्मक होने के कारण फंतासी को बिम्बों सहारा लेना पड़ता है, अन्यथा फंतासी यथार्थ और कल्पना के बीच जिस 'झीने परदे' का निर्माण करती है, उसका निर्माण न हो सकेगा और यर्थाथ कल्पना की कुहेलिका में खो जाएगा! यही कारण है कि फंतासी में बिम्बों का आधिक्य होता है। फंतासी के भीतर विविध बिम्ब आपस में सम्बद्ध होकर एक सार्थकता ग्रहण करते चलते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध की फंतासी में बिम्बों का आधिक्य देखकर, बेचैनी भरे स्वर में कहा है कि वे बिम्बों में ही सोचते हैं। उनके अभाव में वे सोच ही नहीं सकते। रूपक फंतासी का प्राण तत्त्व है। रूपक से हमारा तात्पर्य उस काव्य–प्रयोग से है, जिसमें एक वस्तु का गुण–धर्म दूसरी वस्तु पर आरोपित कर दिया जाता है। रूपक एक तरह का संकेतात्मक बिम्ब ही होता है, परन्तु बिम्ब जहाँ अमूर्त का मूर्तिकरण करता है,

रूपक केवल उसका सादृश्य उपस्थित करता है। फंतासी में रूपक का प्रयोग सादृश्य–बोध को सशक्त करने के लिए किया जाता है।

फंतासी में स्वप्नों एवं स्मृतियों का बेहद सर्जनात्मक उपयोग होता है। इस उपयोग के माध्यम से कवि सुदूर अतीत का वर्त्तमान और आगमिष्यत भविष्य से जुड़ाव करता है। ऐसा करते हुए वह अपनी फंतासी को एक विराट् परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है, जिसमें उसका अवचेतन धीरे–धीरे अपनी अभिव्यक्ति पाता है। अपनी स्मृति के सहारे कवि काल की सीमा से मुक्त हो जाता है एवं कविता में एक निरंतरता बनाये रखने की बाध्यता से मुक्त होकर एक साथ अपने अनुभवों और सामयिक हालात का सायुज्य उपस्थित करता है। स्वप्न में मनुष्य का अवचेतन उभार पाता है। कविता में इसकी अभिव्यक्ति एक यथार्थ की तरह हो इसके लिए स्वप्न का अवलम्बन जरूरी है।

फंतासी में कवि आत्मविस्मरण जैसे उपकरण का बहुधा प्रयोग करते हैं। इस 'विस्मरण' का संबंध पूर्वोल्लेखित 'स्मृति' से नहीं है। यह विस्मरण कुछ इस तरह का होता है कि अपना ही रूप, अपनी ही इच्छाओं–विश्वासों का पुंज बनकर सामने खड़ा हो जाता है। आत्मविस्मृति की इस दशा में इस बात का ध्यान नहीं रहता कि उसके सामने प्रकट यह व्यक्तित्व उसकी ही इच्छाओं का पुंज–मात्र था। इस क्रम में बहुत सम्भव है, वह इतिहास का मानवीकरण कर दे। वह स्वयं को इतिहास–पुरूष भी बना सकता है अथवा किसी इतिहास पुरूष को अपने विचारों का वाहक–माध्यम भी। इसी स्तर पर कवि अपनी चेतना का आत्म–विस्तार भी करता है और स्वयं दूसरों के दर्दों का जागरूक भोक्ता बनकर सब दर्दों से परिचय प्राप्त करता है। कवि के आत्म–विस्तार की यह सम्भावना फंतासीविहिन रचनाओं में भी सम्भव है, परन्तु सम्भावना का जो विस्तार फंतासी में हो सकता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए फंतासी में कवि का अपना व्यक्तित्व, अपनी इच्छाऐं ही विस्तृत रूप में अभिव्यक्त होती हैं।

फंतासी में वर्णित परिवेश, घटनाऐं या विचार आदि हमेशा तार्किक नहीं होते। कल्पना का वैभव फंतासी में अपने उत्कर्ष पर रहता है, जिसका प्रभाव

उसकी वर्णनशैली पर पड़ता है, परन्तु यह केवल शैलीगत अव्यवस्था होती है, उसका भाव इस अव्यवस्था के भीतर भी अव्याहत रहता है।

फंतासी में जो परिवेश चित्रित होता है, वह प्रायः अयथार्थजन्य एवं वायवीय होता है। अपनी कल्पना से रचनाकार एक जादुई एंव तिलस्मी वातावरण का निर्माण करता है, जिसमें कभी–कभी मूर्त भी अमूर्त एवं भ्रमयुक्त बन जाता है।

फंतासी की रचना–प्रक्रिया जितनी जटिल होती है, उसकी आलोचना उस से कहीं ज्यादा जटिल होती है। कवि के व्यक्तित्व एवं अपने समय से उसकी क्रिया–प्रतिक्रिया का कल्पनात्मक हो उठना फंतासी को एक दुर्बोध शिल्प बना देता है। फंतासी में रचनाकार जिस संतुलन की साधना करता है, उस से विश्लेषक का संतुलन लगातार बना रहे, यह उसकी ग्राह्यता के लिए बहुत जरूरी है। संप्रेषण की दृष्टि से इसीलिए फंतासी एक गूढ़ कलात्मक शिल्प है, अतः इसकी व्याख्या करना भी अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाने से कम नहीं पर फिर भी, फंतासी के स्वरूप, उसकी अवधारणा, एक शिल्प के रूप में उसकी उपयोगिता के पूर्वापर उल्लेख के साथ इस समस्या का संधान मुश्किल से आसानी की ओर प्रवृत्त होगा, ऐसी आशा तो की ही जा सकती है।

HH-1525

सन्दर्भ — सूची

१ . ड्यूडेन जर्मन मिनी डिक्शनरी, पृ. — २२३.

२ . फ्रायड एण्ड ह्यूमिनिटिज, पृ. — ४३

३ . इनसाइक्लोपेडिया ऑफ फिलॉसफी एण्ड साइकॉलजी, पृ. — ३७४.

४ . वही, ३६७

५ . कलेक्टेड पेपर्स — IV. पृ. — १७

६ . वही, पृ. — १७६

७ . वही पृ. — १८

८ . वही पृ. — १९

९ . फ्रायड एण्ड ह्यूमिनिटिज, पृ. — ५०.

१०. इरोज एण्ड सिवलाइजेशन, पृ. — १२४.

११. कलेक्टेड पेपर्स — IV, पृ. — १७७.

१२. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. — २०.

१३. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ. — ३.

१४. कलेक्टेड पेपर्स IV, पृ. — १८२

१५. कामायनी एक पुनर्विचार, पृ. — ८.

१६. एक साहित्यिक की डायरी, पृ. — २३१.

१७. वही, पृ. — २४९

१८. वही, पृ. — २५

१९. वही, पृ. — २७६

२०. कामायनी एक पुनर्विचार, पृ. — ११.

२१. वही, पृ. — १३.

२२. एक कवि की नोटबुक; राजेश पृ. — १२९.

२३. वही, पृ. — १२९

२४. वही, पृ — १२९

२५. कामायनी एक पुनर्विचार, पृ. — १२.

द्वितीय अध्याय

मुक्तिबोध की मानसिक संरचना और फंतासी

०

'मुक्तिबोध की भावात्मक ऊर्जा अशेष और अटूट थी, जैसे कोई नैसर्गिक अन्त:स्त्रोत हो जो कभी चुकता ही नहीं, बल्कि लगातार अधिकाधिक वेग और तीव्रता के साथ उमड़ता चला आता है। इस आवेग के दबाव में वह लगातार — लिखते चले जाते थे और उनकी यह ऊर्जा अनेकानेक कल्पना–चित्रों, फैण्टेसियों के आकार ग्रहण कर लेती थी।'[१]

नेमिचन्द्र जैन उन व्यक्तियों में से एक हैं जिनका मुक्तिबोध से स्नेह और सहयोग का साथ रहा है। मुक्तिबोध एवं नेमिचन्द्र जैन के बीच में जो पत्र–व्यवहार हुए हैं, उन से इस बात का पता चलता है कि उनके बीच बेहद आत्मीय एवं पारिवारिक रिश्ते थे। मुक्तिबोध ने अपने पत्रों में कई व्यक्तिगत एवं पारिवारिक परेशानियों का ज़िक्र एवं कभी–कभी सहायता लेने का नि:संकोच उल्लेख भी किया है। गो कि दोनों व्यक्तियों के बीच बेहद निजत्वपूर्ण संबंध थे। हमारा यह मंतव्य है कि 'मुक्तिबोध रचनावली' का संपादन करते हुए नेमिचन्द्र जैन ने जो उक्त टिप्पणी की है, उसका आधार महज़ मुक्तिबोध की रचनाऐं ही नहीं हो सकती, उसमें इस साहचर्य से प्राप्त व्यक्तिगत अनुभूतियों का योग भी है।

मुक्तिबोध की भावात्मक ऊर्जा के इस अन्त:स्त्रोत का कारण क्या है? व्यवस्था एवं लोभ–लिप्सु अवसरवादी? सामाजिक, धार्मिक आडम्बर? विद्वानों एवं चेतनाशील वर्गों का समझौतावादी रूख? मध्यवर्गीय आलस्य–भाव एवं जड़ता? सर्वहारा का असंगठित स्वरूप? उनके काव्य का अनुशीलन प्राय: इस बात की इजाज़त प्रदान करता है कि हम इन सब कारणों के प्रति उनकी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया को इस अशेष ऊर्जा का स्त्रोत समझ लें, परन्तु मनोविज्ञान की भाषा में इस भावात्मक एवं अशेष ऊर्जा के स्त्रोत को 'id' के रूप में ही पहचाना जाएगा। इड (id) आनंद–सिद्धांत का आश्रित होता है, जो हर सूरत में अपनी आकांक्षा की संतुष्टि चाहता है। ऊर्जा का यह मानसिक आश्रय स्थल बेहद तीव्रता से इस बात की परवाह किये बग़ैर कि सामाजिक

मानदण्ड क्या है, अपनी आकांक्षा की पूर्ति की राह तलाश करता है। वे तमाम विसंगतियाँ जिनका पूर्व में उल्लेख किया गया है, मुक्तिबोध के आनंद–सिद्धांत के केन्द्र में हैं। यह ध्यातव्य है कि इड की संतुष्टि का संबंध व्यक्तिगत स्तर के आनंद–मात्र से ही नही होता। जीवन एवं जगत के बोध एवं बोध के प्रति संवेदनात्मक ज्ञान का परिचय मस्तिष्क को चयनात्मक रूप से होता हैं। और हम चयनित संवेदनात्मक ज्ञान के प्रति ही प्रतिक्रियाशील होते हैं अन्यथा यह फिर से सम्भव हुआ होता कि काम–सूत्र में आबद्ध मैथुन–रत क्रौंच की किसी निषाद ने हत्या कर दी होती और शोक–विह्वल किसी बाल्मिकी के मुख से श्लोक की धारा बह निकलती– ''मा निषाद प्रतिष्ठाम त्वमगम्...''। हमारा यही चयनित संवेदनात्मक ज्ञान इड की प्रतिक्रिया को परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। मुक्तिबोध के इड की प्रतिक्रिया के केन्द्र में यही सामाजिक–राजनैतिक–नैतिक विसंगतियाँ हैं। और क्योंकि विसंगतियों से आबद्ध व्यवस्था के अपने आंतरिक क़ायदे–कानून होते हैं, इसलिए 'ईगो (Ego) के रूप में, बार–बार यही क़ायदे–कानून इड (id) की आकांक्षा–सम्पूर्ति को रोकने, बाधित या दमित करने की कोशिश करते हैं। 'अँधेरे में' कविता का वह दृश्य ध्यातव्य है, जहाँ काव्यनायक तमाम सफ़ेदपोशों के काले चेहरे को देख लेता है। अपराध और व्यवस्था का क्रूर तालमेल इसकी इजाज़त नहीं देता कि आप उसे नंगी आँखों देख लें। यही उसका कानून है। काव्यनायक जब उसे देखता है, व्यवस्था का तुरंत यह आदेश होता है– 'मारो गोली, दाग़ो स्साले को एकदम'। कवि का ईगो (Ego) फंतासी के भीतर भी भय का संसार खड़ा करता है। वस्तुतः वह एक स्वप्न है, जिसमें नक़ाबपोश को बेनक़ाब देखा जाता हैं, परन्तु यह Ego है जो, स्वप्न के भीतर भी इड पर अपना दबाव बनाना नहीं छोड़ता।

मुक्तिबोध अपने माता–पिता की तीसरी संतान थे। मुक्तिबोध के पूर्व दो बच्चों का जन्म तो हुआ था, परन्तु वे जीवित न रह सके। इसलिए स्वाभाविक रूप से मुक्तिबोध का लालन–पालन स्नेहिल और अनुरागपूर्ण वातावरण में

हुआ था। नन्दकिशोर नवल लिखते हैं — *''शाम को उन्हें बाबा गाड़ी में हवा खिलाने के लिए बाहर ले जाया जाता। सात—आठ की उम्र तक अर्दली ही उन्हें कपड़े पहनाते थे। उनकी सभी जरूरतों का ध्यान रखा जाता रहा, उनकी हर माँग पूरी की जाती रही। बाद में घर में और भी बच्चे आए, लेकिन उन्हें माता—पिता से उन जैसा लाड़—प्यार न मिला... मुक्तिबोध जब कुछ बड़े हुए तो माता की आज्ञा से 'बाबूसाहब' कहकर पुकारा जाने लगा। पिता का भी ऐसा ही आग्रह था। ...इस अतिरिक्त लाड़—प्यार और राजसी ठाठ—बाट का यह परिणाम हुआ कि बालक का मन कुछ बढ़ गया जिस से प्रकृति से वह हठी और जिद्दी हो गया।''*२

सुविधासम्पन्न घरों के वे बच्चे जिनकी माँगे उचित—अनुचित का ध्यान रखे बग़ैर पूरी कर दी जाती हैं, धीरे—धीरे आनन्द—सिद्धांत से परिचालित होने लगते हैं। उनका व्यवहार जीवन के क्षेत्र में भी समस्याओं का तीव्र समाधान चाहता है। यह एक गूढ़ सच्चाई हैं कि सामाजिक क्षेत्रों में उत्पन्न समस्याऐं धीरे—धीरे एक प्रक्रिया में आकर समाप्त होती हैं, उसके लिए धैर्य की जरूरत होती है। परन्तु आनंद—सिद्धांत धैर्य की भाषा नहीं समझता। वह हर समस्या का समाधान तुरन्त चाहता है। मुक्तिबोध के सन्दर्भ में ग़ौरतलब बातें ये हैं कि उन्हें यथार्थ का गहरा ज्ञान था। वे समस्याओं को सही रूप में समझते भी थे परन्तु उनके प्रति उनकी प्रतिक्रिया बहुधा इड से परिचालित होती थी इसकी पुष्टि उनकी कविताओं से भी होती है। और क्योंकि इड मनुष्य के अवचेतन से परिचालित होता है, इसलिए ऐन उसी वक्त वह समझ पाना कि हमारी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया के आधार क्या हैं, बहुत मुश्किल होता है। मुक्तिबोध समस्याओं पर बात करते हुए बेहद उत्तेजित हो जाते थे, साँस की गति तेज हो जाती थी, बेचैन होकर इधर—उधर टहलने और बीड़ी फूँकने लगते थे। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध की संवेदनशीलता ही उन्हें इतना बेचैन कर देती थी, वे विसंगतियों को ख़त्म कर डालने के लिए आकुल हो

उठते थे। परन्तु असल में यह उनके इड एवं ईगो के द्वन्द्व से उत्पन्न बेचैनी होती थी, जो एक–दूसरे पर नियंत्रण पर लेने की कोशिश करते थे।

मुक्तिबोध के जीवन में आनंद–सिद्धांत की प्रभावी भूमिका रही है। जीवन में इसकी सक्रियता जितनी अधिक होगी व्यक्ति में निजत्वबोध उतना ही अधिक होगा क्योंकि इसकी प्रवृत्ति ही आत्म–केन्द्रन की होती है। 'मुक्तिबोध की आत्मकथा' में एक ऐसा ही उद्धरण दिया गया है, जो रचनावली भाग दो से लिया गया है। मुक्तिबोध कहते हैं– *''...मेरा सोचने का अपना एक आत्मतंत्र है। मैं उसी आत्मतंत्री में लीन और तल्लीन रहा करता हूँ। जब फोड़ा दुखता है, लहर एक दर्द की दौड़ जाती है। मैं सोचता हूँ... काश मै निज से बड़ा और सख़्त हो पाता।''*[३]

समस्या मूलत: निज की परिधि से न निकल पाने की है। जिस की परिधि से हमारा तात्पर्य व्यक्तिगत सुख एवं वैभव–विलास की चिन्ता से कदाचित् नही है, बल्कि इस से हमारा तात्पर्य निज के विचारों, उसूलों एवं आदर्शों के प्रति एक ऐसे रागबोध से है, जिसकी उपेक्षा करना मुक्तिबोध के लिए हमेशा कठिन रहा है।

युवावस्था में मुक्तिबोध का लगाव बुआ अत्ताबाई की नौकरानी मनुबाई की बेटी शांता से हो गया था। परन्तु विवाह में सबसे बड़ी अड़चन माता–पिता एवं परिवार के अन्य लोगों की कड़ी असहमति थी। घरवाले नौकरानी की बेटी से विवाह को स्वीकार करने के खिलाफ़ थे। मुक्तिबोध ने अपने प्रस्ताव के विरोध में घर छोड़ दिया। बाद में जैसा कि नन्दकिशोर नवल लिखते हैं– *''उन्होंने चार–पाँच पृष्ठों का एक आवेश से भरा हुआ पत्र अपने पिता को लिखा...।''*[४] अन्तत: जैसा कि मुक्तिबोध की हठ के साथ प्राय: होता था, वैसा ही व्यवहार हुआ। पहले माँ झुकीं फिर उन्होंने पिता को मनाया और मुक्तिबोध का विवाह शांताबाई से सम्पन्न करा दिया गया। अपनी इच्छा की संतुष्टि की

ऐसी ज़िद— *''मेरा विवाह शांताबाई के साथ ही हो सकता है, अन्यथा नहीं होगा। यदि इसे स्वीकार न किया गया तो मैं अपने पिता के पास कभी नहीं जाऊँगा, चाहे कहीं जाना पड़े।''*[4]

इस ज़िद की ऊर्जा का स्त्रोत क्या है? निश्चय ही अवचेतन जहाँ बचपन से ही सारे संस्कार क्रमशः जमते और मजबूत होते चले गये।

शांताबाई से विवाह के उपरांत गृहस्थी का दबाव उचित ही था। नौकरी की तलाश शुरू हुई। इस कार्य में उन्हें अपने मित्रों— प्रभाकर माचवे, वीरेन्द्र कुमार जैन, श्री नेमिचन्द्र जैन आदि का हर संभव सहयोग मिलता रहा। कभी नौकरी में मन नहीं रमा, क्योंकि वह निज के व्यक्तित्व के अनुकूल न होती तो कभी इतना वेतन न मिलता कि परिवार को चलाने भर तक का खर्च पूरा हो पाता। तात्पर्य यह कि तंगहाली का दौर लगातार बना रहा इसके बावजूद उन में बचत की प्रवृत्ति न थी। नन्दकिशोर नवल लिखते हैं कि *''...दोस्तों पर जेब खाली कर देने तक को कोई महत्त्व नहीं देते, पैसा खर्च करने में उन्हें आनंद आता था।''*[5] अपनी वास्तविक पारिवारिक स्थितियों को बेहतर जानने के बावजूद बचत की बज़ाय खर्च करने में आनंद महसूस करना क्या यथार्थ के प्रति उचित प्रतिक्रिया है? अभाव—रहित बचपन पाने के कारण उनकी मनोसंरचना कुछ ऐसी हो गयी थी कि वे अभाव के प्रति उस तरह से संवेदनशील न रह सके जो उन्हें बचत की ओर प्रवृत्त करता।

मुक्तिबोध के छोटे भाई शरच्चन्द्र माधव मुक्तिबोध ने 'मेरे बड़े भाई' से एक संस्मरण लिखा है। मुक्तिबोध की कविता पर उनके निजी व्यक्तित्व की गहरी छाप थी। शरच्चन्द्र माधव मुक्तिबोध ने इसे सहानुभूतिपूर्वक याद किया है— *''जीवन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया बौद्धिक और तटस्थ नहीं थी, तीव्र भावनात्मक होती थी। वह भी ऐसी उच्च नैतिक भावनात्मक प्रतिक्रिया थी कि उनकी कविता आधुनिक भारतीय मनोदशा पर किया हुआ एक महत्त्पूर्ण भाष्य*

ही बन गयी।'[७] शरच्चन्द्र माधव मुक्तिबोध ने भाई साहब की भावनात्मक तीव्रता को उनके रचना कर्म से जोड़कर उचित ही किया है। इसमें कोई शक नहीं कि मुक्तिबोध बेहद तीव्र भावावेग से चालित रहते थे।

मुक्तिबोध की फंतासी में तीव्र छटपटाहट दिखलाई पड़ती है। मानव–समाज की समस्याऐं, उनकी उत्तेजना का सब से बड़ा कारण थी। यह बेहद मज़ेदार तथ्य है कि देश–समाज की समस्याओं से बेचैन रहनेवाले मुक्तिबोध पारिवारिक समस्याओं से विमुख बने रहे। शरच्चन्द्र याद करते हैं– *''बातचीत एकदम कभी राजनीति से, कभी साहित्य से शुरू हो जाती है और फिर जीवन के हर क्षेत्र को छूती हुई कहती चली जाती है। खाने की ओर ध्यान नहीं है x x x भाई साहब के चले जाने के बाद मैं कुछ देर तक अपने विचारों को, ठीक तौर से जमाने में, व्यवस्थित करने में गुज़ार देता हूँ। घर पर लोग पूछते हैं– 'बाबूसाहब ने क्या कहा?' मैं जवाब देता हूँ– 'नहीं, घरेलू बातें नहीं हुईं।' तूफान आया, आया , गया गया। अभी आए थे। अभी चले गए। यही क्रम अब तक चल रहा था।'*[८] मुक्तिबोध घरेलू समस्याओं पर बात क्यों नहीं करते थे, इसका कोई सरल उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इससे कई प्रश्न स्वाभाविक रूप से गुँथे हुए हैं। क्या मुक्तिबोध पलायनवादी थे? पारिवारिक अभावग्रस्तता को दूर करने की अपनी अक्षमता को क्या वे समाजिक–राजनीतिक–साहित्यिक मुद्दों पर बहस छेड़कर कोई ओट देने का प्रयास करते थे? इसका एक उत्तर तो मुक्तिबोध का अभाव-रहित बचपन है, जिसका उल्लेख उनकी फिजूलखर्ची के संबंध में किया गया है। मुक्तिबोध की घरेलू समस्याओं से उदासीनता का एक बड़ा प्रभावी कारण अभाव-रहित बचपन था। दूसरा उत्तर है, मुक्तिबोध के चिन्तन में सामाजिक–राजनीति समस्याओं का परिप्रेक्ष्य। यह परिप्रेक्ष्य सम्भवत: उनकी घरेलू समस्या थी। यह सम्भव है कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को विराट परिप्रेक्ष्य प्रदान कर दिया हो या संवेदनात्मक ज्ञान, ज्ञानात्मक संवेदन के रूप में परिवर्तित होकर

भारतीय आम—जन की चिन्ता का भाष्य बन रहा हो। सम्भवत: गमे जाँना इसी तरह गमे दौराँ बन जाता है—

''क्यों न: जहाँ का ग़म अपना लें
बाद में सब तदवीरें सोचें
बाद में सुख के सपने देखे
सपनों की ताबीरें सोचें''[९]

'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' में वे लिखते हैं— *''...आज शिक्षित मध्यवर्ग में जो भयानक अवसरवाद छाया हुआ है, आत्म—स्वातंत्र्य के नाम पर स्व-हित, स्वार्थ, स्व-कल्याण की जो भागदौड़ मची हुई हैं, 'मारो—खाओ', हाथ मत आओ' का जो सिद्धांत सक्रिय हो उठा है, उसके कारण, कवियों का ध्यान केवल निज मन पर ही केन्द्रित हो जाता है। आज की कविता वस्तुत: पर्सनल—सिच्युएशन की स्वस्थिति की, स्वदशा की कविता है। किन्तु अब ज़िन्दगी का यह तक़ाजा है कि वह अपनी इस निज समस्या को वर्तमान युग की मानव—समस्याओं के रूप में देखें और उन्हें वैसा चित्रित करें।''*[१०] समझ में आता है कि मुक्तिबोध की घरेलू समस्या के प्रति उदासीनता के कारण क्या थे। ज़िन्दगी का तक़ाजा क्या केवल दूसरों के लिए ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा, स्वयं मुक्तिबोध के लिए नहीं।

इस तक़ाजे के मायने कई स्तर पर अर्थपूर्ण हैं। सांसारिक समस्याओं के प्रति इस किस्म का रागबोध एक दिन की उपज नहीं हो सकती, इसमें लम्बा समय लगा होगा। मुझे लगता है, मुक्तिबोध बचपन में जिस 'id' की तीव्रता के शिकार थे, वह मार्क्सवादी दर्शन के प्रभाव में और अधिक मज़बूत और तीव्र होता चला गया। इसका महत्त्वपूर्ण कारण सम्भवत: मार्क्सवादी दर्शन में मौजूद स्पष्ट वर्ग—बोध रहा होगा। यह दर्शन न केवल भारतीय नियतिवादी चेतना के खिलाफ है बल्कि सामाजिक विकास में द्वन्द्वयुक्त वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता को तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक तरीके से प्रस्तुत भी करता है। मुक्तिबोध

जिन दिनों गृहस्थी के संघर्ष से दो–चार होने लगे थे, उन्हीं दिनों वे मार्क्सवाद के प्रभाव में आये थे। इस दर्शन ने उनकी सर्वोच्च–विवेक–चेतना (सुपर ईगो) के निर्माण में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। अभावग्रस्तता, बेरोजगारी और अंसगतिपूर्ण व्यवस्था ने व्यक्तिगत इच्छाओं के दमन की जो मजबूरी पैदा की, वे सारे तत्व अवचेतन में आकर और दृष्टिसम्पन्न सुपर ईगो का अवलम्ब पाकर विराट परिप्रेक्ष्य ग्रहण करते चले गये। ऐसा नहीं है कि वे अपनी घरेलू–समस्याओं और मजबूरी को समझते न थे, बल्कि यह समस्या उन्हें कभी–कभी निराशा और अवसाद के गहरे कुएँ की ओर धकेल देती थी, जहाँ पहुँच = कभी–कभी उनके मन में आत्महत्या के विचार भी आ जाते थे। ऐसे समय में नेमिचन्द्र जैन मित्र होने का कर्त्तव्य निबाहते। वे उन्हें समझाते कि *''दुनिया के करोड़ो–करोड़ो लोगों का हाल उन से भी अधिक खराब है, फिर वे अपने को ही परेशान दिखलाकर उनका अपमान क्यों कर रहे हैं?''*[११] नेमिचन्द्र जी उनकी पीड़ा को एक बड़ा सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान कर देते थे। सच तो यह है कि स्वयं मुक्तिबोध के पास भी यह परिप्रेक्ष्य था। जरूरत पड़ने पर वे स्वयं नेमिचन्द्र जैन जी के मन की निराशा भी दूर करते थे। यह ध्यातव्य है कि नेमिचन्द्र जैन ने ही, मुक्तिबोध को मार्क्सवाद की ओर प्रवृत किया था। कुछ तो नेमिचन्द्र जैन ने बहुत हद तक मार्क्सवाद ने मुक्तिबोध की पीड़ा को विराट परिप्रक्ष्य प्रदान किया है। मुक्तिबोध ने यथार्थ के प्रति गहरी अनुभूति–प्रवणता के साथ–साथ अपनी मानसिक बनावट का ज़िक्र करते हुए नेमिचन्द्र जैन को एक खत लिखा था। उसमें लिखते हैं– *''जैसा कि तुम जानते हो, मैं विचित्र प्रकार का व्यक्ति हूँ जिसे सदा ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता रहती है जिसकी प्यारी सलाहों और अंतरंग विवेचन में निहित प्रिय परामर्शों की संवेदना मुझमें उत्कट स्नेह और तीव्र कल्पना की गर्मी पैदा कर देती है। मैं निष्क्रिय और प्रकटत: उदासीन–सा रहता हूँ, क्योंकि मेरी मानसिक स्थिति प्रबल संगठनात्मक आधार पर नही टिकी है। लेकिन दोस्त, मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं यथार्थ अनुभूति के लिए लालायित रहता हूँ।*

अनुभूति के बिना में मिट्टी के लौंदे–सा चेतनाहीन रहता हूँ।''[१२] प्यारी सलाह और प्रिय परामर्श की आशा सभी करते हैं, इसमें व्यक्तित्व का कोई वैचित्र्य नही होता, मुक्तिबोध की विचित्रता उनका मानसिक चांचल्य है। उनकी इसी प्रवृत्ति के कारण उनमें उदासीनता घर कर गई थी। मुक्तिबोध यथार्थ की अनुभूति तो करते थे, पर उसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया बहुधा बौद्धिक नहीं बल्कि भावुकतापूर्ण होती थी। यही प्रवृत्ति उन्हें प्रायः उदास कर देती थी। दुनिया का कारोबार भावना से नहीं, बुद्धि से चलता है, मुक्तिबोध प्रायः भावना के वशीभूत रहे। पर इसका क्रांतिकारी परिणाम यह हुआ कि साहित्य की दुनिया ने मुक्तिबोध को प्राप्त किया। भावुकता से आप्लावित उनके काव्य–संसार में यथार्थ का सच सबसे गहरे में मौजूद है।

उनकी उदासीनता का एक अन्य कारण असंतोष से उत्पन्न द्वन्द्व रहा होगा। यह सच है कि उनका असंतोष बहुधा व्यक्तिगत न हुआ करता था तब भी यह एक महत्त्वपूर्ण कारण तो था ही। तारसप्तक में वे लिखते हैं– *''मेरी हर विकास स्थिति में मुझे घोर असंतोष रहा और है। मानसिक द्वन्द्व मेरे व्यक्तित्व में बद्धमूल है। यह मैं निकटता से अनुभव करता आ रहा हूँ कि जिस भी क्षेत्र में मैं हूँ वह स्वयं अपूर्ण है, और उसका ठीक–ठीक प्रकटीकरण भी नहीं हो रहा है। फलतः गुप्त अशांति मन के अंदर घर किए रहती है।''*[१३] असंतोष और द्वन्द्व का सीधा संबंध व्यक्ति की मानसिक संरचना से होता है। व्यक्ति जिस परिवेश में रहता है, उसकी मानसिक प्रक्रिया उस से गहरे सम्बद्ध होती है। यह समय मुक्तिबोध के विकास का सांकेतिक चरण था। जैसा कि लकाँ कहते हैं किसी व्यक्ति के विकास को दो चरणों में देखना चाहिए। विकास का पहला चरण मिरर स्टेज (Mirror Stage) कहलाता है, इसमें व्यक्ति चीजों को उसके मूल रूप में ग्रहण करता है। दूसरा चरण सांकेतिक या सिम्बॉलिक स्टेज कहलाता है, इस चरण में व्यक्ति चीजों एवं स्थितियों का ग्रहण सांकेतिक रूप में करता है। इस दौर में, जब वे चीजों को सांकेतिक रूप

में ग्रहण कर रहे थे, उसकी आभ्यंतरीकरण प्रारम्भिक चरण से प्रभावित हो रही होगी। बचपन में मिली चिन्तामुक्त एवं अभावरहित ज़िन्दगी, बाद में प्राप्त विसंगतिपूर्ण और कंटकित स्थितियों को ग्रहण करने में असुविधा प्रदान कर रही होगी। सम्भवत: यही कारण रहा होगा, जिसके कारण वे हर क्षेत्र पर अपूर्णता का आरोप लगाते रहे।

मुक्तिबोध हमेशा द्वन्द्व ग्रस्त रहते थे। आर्डनेंस फैक्टरी में नौकरी मिली तो पारिवारिक समस्याओं से, जो प्राय: अर्थाभाव के कारण थी निजात मिलने की सम्भावना उत्पन्न हुई, परन्तु अब दूसरा द्वन्द्व उत्पन्न हो गया। वे परेशान हालत नेमिचन्द्र जैन को पत्र लिखते हैं— *'मुझे फिर पार्टी—मेंबर बना लिया गया है। मुझे कुछ निश्चित कामों को करना है उन्हें करना सुखद है। आर्डनेंस फैक्टरी में यह छूट जाएगा। इससे अधिक, मुझे पार्टी से इस्तीफा देना होगा और मैं भावना से सोचने में यह सोच भी नहीं सकता हूँ और यदि आर्डनेंस फ़ैक्टरी की ही बात रहे तो मैं यह भी करने को तैयार हूँ।'*[१४]

स्पष्ट है कि द्वन्द्व का कारण केवल घरेलू समस्याऐं नहीं है! मार्क्सवाद उनके लिए बुद्धि से कहीं अधिक भावुकता की वस्तु हो गया था। कहना न होगा कि मार्क्सवाद के प्रति इस मोह का कारण वे सामाजिक परिस्थितियाँ थी, मुक्तिबोध जिनसे मुक्ति की राह तलाश रहे थे और मार्क्सवाद जिस मार्ग का प्रशस्तक था। मुक्तिबोध का मानस यथार्थ—सिद्धांत से ज्यादा आनंद—सिद्धांत के करीब था, अन्यथा वे आर्डनेंस फैक्टरी छोड़ने की बात न करते। उनके व्यक्तित्व के विकास में नि:संदेह अवचेतन की बड़ी भूमिका रही है।

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व—निर्माण में अवचेतन की बड़ी भूमिका होती है। 'एक मित्र की पत्नी का प्रश्न—चिह्न' में वे स्पष्ट लिखते हैं कि *"... व्यक्तित्व के निर्माण में चेतन—मन का रोल बहुत कम होता है... आप जिसे व्यक्तित्व या चरित्र कहते हैं, वह चेतन काम के बहुत बाहर की चीज़ है, मानो हीरे को धारण किए हुए एक शिला।'*[१५] मुक्तिबोध के व्यक्तित्व—निर्माण में भी संभवत: अवचेतन की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। आनंद—सिद्धांत का आग्रह उनके

सम्पूर्ण काव्य–व्यक्तित्व को एक मजबूत आधार प्रदान करता है। उनके भीतर की बेचैनी और भावावेग का प्रबल ज्वार कविता के प्राण तत्त्व हैं, जिसके सहारे मुक्तिबोध की फंतासी में एक वैचारिक तपिश महसूस की जा सकती है। उनके लगातार लिखते चले जाने का जो ऊर्जस्वित, अशेष एवं अटूट स्त्रोत है, वह उनकी मनोसंरचना में मौजूद है। जीवन एवं जगत् के प्रति उनकी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया को उन मूल समस्याओं से जोड़कर देखा जाना चाहिए, जो उनके मस्तिष्क के अवचेतन में आनंद–सिद्धांत के अधीन उपस्थित है।

मुक्तिबोध एक रचनाकार हैं और उनकी फंतासी को एक रचना समझकर ही अध्ययन का विषय बनाया जाना चाहिए। यह सच है कि उनका जीवन और काव्य की अभिव्यक्ति दोनों पर आनंद–सिद्धांत का गहरा प्रभाव है, परन्तु देखना यह होगा कि इस प्रभाव का प्रतिक्रियात्मक स्वरूप क्या है। क्योंकि आनंद–सिद्धांत के लिए भी यथार्थ का वस्तुनिष्ठ स्वरूप वही होता है जो यथार्थ–सिद्धांत के लिए, अन्तर उस वस्तुनिष्ठ स्वरूप के प्रति संवेदनात्मक प्रतिक्रिया को लेकर हो सकती है। जीवन–विवेक का सृजनात्मक बोध से जो अभिन्न किस्म का संबंध होता है, मुक्तिबोध की फंतासी को इसी सन्दर्भ में देखा–परखा जाना चाहिए। मुक्तिबोध कहते हैं कि *''यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर होता है'*[१६] यह अंतर आनुषांगिक रूप से भाववादी शिल्प और भाववादी दृष्टिकोण में भी होना चाहिए। मुक्तिबोध यथार्थ की अनुभूति के प्रबल आग्रही थे। जब उन्हें लगता है कि वे इस अनुभूति से दूर हो रहे हैं उन्हें प्रतीत होता है कि वे 'मिट्टी के लौंदे–सा चेतनाहीन' हो रहे हैं। यह बिल्कुल अलग तरह का मामला है कि यथार्थ की अनुभूति का स्वरूप क्या था। किसी मन के लिए यह अनुभूति केवल संवेदनात्मक ज्ञान तक ही सीमित रह जा सकती है, परन्तु मुक्तिबोध के लिए यह बहुधा ज्ञानात्मक संवेदन में परिवर्तित हुए बग़ैर नहीं रहता था। उनकी फंतासी ज्ञान और संवेदना के आनुपातिक मेल से उत्पन्न एक विशेष किस्म का यौगिक (Compound)

है, जिसका आस्वादन यथार्थ से भिन्न रूप में किया जाता है। वस्तुत: उनकी फंतासी अन्य किसी भी कला रूपों की तरह जीवन की पुनर्रचना है। यह पुनर्रचित जीवन यथार्थ से सारत: एक होने के बावजूद स्वरूपत: भिन्न होता है। इसका मूल कारण ज्ञान का संवेदना में बदल जाना है और इस बदलाव में पुनर्रचित जीवन एक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया से लैस हो जाती है। ज्ञान की पुनर्रचना ही वस्तुत: उनकी फंतासी की गत्यात्मकता का कारण है और कहने की आवश्यकता नहीं कि इस पुनर्रचना में संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का आधार अवचेतन है। ज्ञान की यही संवेदनात्मक पुनर्रचना, मुक्तिबोध का सृजनबोध है और इसे ही दूसरे रूप में फंतासी कहकर स्पष्ट किया जाता है।

कवि का फंतासी के प्रति लगाव उसके विवेकपूर्ण चिन्तन पर आधारित है, संभवत: विवेकपूर्ण चयन पर भी। मुक्तिबोध अपनी प्रतिक्रिया को जिस रूप में प्रकट कर सकते थे, उन्होंने उसी रूप में उसे प्रकट करने का प्रयास किया है। यह समझा जा सकता है, कि सम्भवत: फंतासी का चयन उनकी रचनात्मक मजबूरी रही होगी, जिसके अभाव में वे स्वयं को प्रकट ही नहीं कर पा रहे थे। दूसरे शब्दों में, फंतासी का संबंध उस आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया से है, जो कवि की पुनर्रचना का आधार है। मुक्तिबोध बाह्य के जिस रूप का आभ्यंतरीकरण करते हैं, उसका संबंध न केवल वर्त्तमान से है, बल्कि इतिहास से भी है। इसे आभ्यंतरीकृत करने की वैचारिक पृष्ठभूमि मार्क्सवाद है, और उसकी प्रतिक्रिया का केन्द्र अवचेतन। वे जिस बाह्य को आत्मसात् कर रहे थे उसमें कई असंगतियाँ थी। फंतासी इन्हीं असंगतियों को समूल प्रकट करने का एक साधन बन गई।

आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया का संबंध मूल्य–दृष्टि से है। यह मूल्य–दृष्टि वर्ग–सापेक्ष होती है। मुक्तिबोध जिस वर्ग से जुड़े थे वह मध्यवर्ग था और आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया में उनके वर्ग का इस पर प्रभाव दिखाई पड़ता है। लेकिन आभ्यंतरीकरण की यह प्रक्रिया उस दृष्टि से भी जुड़ी होती है जो व्यक्ति के 'सुपर ईगो का प्रतिफल होता है। मुक्तिबोध के संदर्भ में मार्क्सवाद

का महत्व इसी जीवनदृष्टि से संबंध है। मुक्तिबोध के सुपर ईगो के निर्माण में मार्क्सवाद की बड़ी भूमिका रही है। इसलिए वर्तमान यथार्थ और इतिहास के प्रति मुक्तिबोध की प्रतिक्रिया को सुपर–ईगो का बहुत मजबूत सहारा' मिलता है।

मुक्तिबोध की फंतासी का मनोविश्लेषण करते हुए न केवल अवचेतन की भूमिका पर ध्यान देना चाहिए बल्कि उस सुपर ईगो पर भी ध्यान अपेक्षित हो जाता है जो चेतन मन के सहारे अवचेतन की प्रतिक्रिया को एक मजबूत आधार प्रदान करता है। उनकी फंतासी का मानसिक संरचना से जो संबंध है वह वस्तुत: शिल्प और रचनाकार की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का संबंध है और हमें फंतासी का विश्लेषण करते हुए इस तनावमूलक संबंध का ध्यान रखना चाहिए। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'नई कविता और मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन' करते हुए मुक्तिबोध के व्यक्तित्व निर्माण में अवचेतन की भूमिका और 'असामान्य मानसिक स्थिति' पर एक विस्तृत चर्चा की है। मनोविश्लेषण के सही तरीके अपनाने के बावजूद सूक्ष्मता से घटनाओं और स्थितियों के सही अवलोकन के अभाव में उन्होंने भ्रांतिपूर्ण निष्कर्ष उपस्थित कर दिया है। शर्मा जी सबसे पहले जेम्स–सी–कोलमैन नामक मनोविद् का हवाला देते हुए मुक्तिबोध हो सिजोफ्रेनिक सिद्ध करते हैं। सिजोफ्रेनिया एक मानसिक रोग का नाम है। शर्मा जी के अनुसार कोलमैन मानते हैं कि *''ऐसा व्यक्ति अपने चिंतन की निजी लीकों पर चलता है और अन्तर्जात के स्वप्नों में (फैण्टेसी में) खोया रहता है। (मुक्तिबोध की स्वप्नशीलता उनके स्वभाव का ऐसा अंग बन जाता है कि वह यथार्थ को स्वप्न में बदले बिना उसका चित्रण कर ही नहीं सकते।) ऐसे व्यक्ति की भावात्मक प्रतिक्रिया विकृत होती है। जिन वस्तुओं व घटनाओं को देखकर प्रतिक्रिया होती है, उनसे प्रतिक्रिया का तालमेल नहीं होता है। (कुछ लोगों में यह प्रतिक्रिया बहुत उथली होती है, मुक्तिबोध में वह अधिकतर गहरी होती है)''*[१७] कोष्ठक में उद्धृत मतंव्य स्पष्टत: शर्मा जी के हैं, यह बात कोलमैन ने नहीं कही है। यह मंतव्य देने के बाद भी शर्मा जी ने

यह नहीं बतलाया कि मुक्तिबोध में यह प्रतिक्रिया गहरी क्यों है। उपर्युक्त उद्धरण में उन्होंने कोष्ठक के भीतर मुक्तिबोध की स्वप्नशीलता को एक हठी स्वभाव के रूप में प्रस्तुत किया है, जबकि पहले से मौज़ूद कोई प्रमाण नहीं देते कि मुक्तिबोध की स्वप्नशीलता उनकी फंतासी में बिना किसी प्रयोजन के दिखाई पड़ती है। यह मूलत: फंतासी के स्वरूप को न समझ पाने के कारण या फंतासी के स्वरूप को अनिवार्यत: रचनाकार की मानसिक बनावट से जोड़कर देखने के कारण संभव हुआ है।

आगे उन्होंने सिजोफ्रेनिया के और कई लक्षण गिनाए हैं। *''सिजोफ्रेनिया से ग्रस्त मनुष्य को लग सकता है कि लोग उसका पीछा कर रहे हैं, यही नहीं, उसे कई बार मार डाला गया है। (इस प्रकार की मृत्यु कल्पना एक जगह वहाँ है, जहाँ 'अँधेरे में' कविता के नायक को लगता है कि सिर में है धड़ धड़!! कट रही हड्डी!! और दूसरी बार जहाँ उसे स्टूल पर बिठाया जाता है और ''शीश की हड्डी जा रही तोड़ी।''*[१८] इस तरह की काव्य पंक्तियों को निकालकर मुक्तिबोध को सिजोफ्रेनिक सिद्ध करना आलोचना का सरलीकरण है क्योंकि यह मुद्दा मुक्तिबोध की फंतासी और उनकी मानसिक संरचना से जुड़ा हुआ है, इसलिए उस पूरे उद्धरण को सामने रखकर बात करना उचित होगा;

''दृश्य ही बदला, चित्र बदल गया
जबरन ले गया मैं गहरे
आँधियारे कमरे के स्याह सिफर में।
टूटे–से स्टूल पर बिठाया गया हूँ।
शीश की हड्डी जा रही तोड़ी।
लोहे की कील पर बड़े हथौड़े
पड़ रहे लगातार।
शीश का मोटा अस्थि–कवच ही निकाल डाला
देखा जा रहा है–
मस्तक–यंत्र में कौन विचारों की कौन–सी ऊर्जा

कौन–सी शिरा में कौन–सी धक–धक,
कौन राग में कौन सी फुरफुरी,
कहाँ है पश्यत् कैमरा जिसमें
तथ्यों के जीवनदृश्य उतरते,
कहाँ–कहाँ सच्चे सपनों के आशय
कहाँ–कहाँ क्षोभक–अस्फोटक सामान!
भीतर कहीं पर गड़े हुए गहरे
तलघर अन्दर
छिपे हुए प्रिंटिंग प्रेस को खोजो
जहाँ कि चुपचाप ख्यालों के परचे
छपते रहते हैं, बाँटे जाते हैं।
इस संस्था के सेक्रेटरी को खोज निकालो,
शायद उसका ही नाम हो आस्था,'[१९]

उपर्युक्त उद्धरण से यह आशय स्पष्ट होता है कि शीश की हड्डी क्यों तोड़ी जा रही है। आपातकाल के अँधेरे में काव्यनायक सत्तापोषी वर्ग द्वारा पकड़ लिया जाता है और उसको टार्चर किया जाता है। आपातकाल के दौर में उस मस्तिष्क में छिपे खयालों, स्वप्नों, क्षोभ, गुस्सा और सत्ता विरोधी विचारों को खत्म कर देने की ज़बरदस्त कोशिश की जाती है। मस्तिष्क ही वह प्रिंटिग प्रेस होता है जिसमें खयालों के परचे छपते हैं। गुस्सा, क्षोभ और बेचैनी को जो दर्शन विचार में बदल देता है उसे खत्म कर देने की कोशिश सत्ताधारी वर्ग हमेशा करते हैं। यही कोशिश काव्यनायक के साथ भी की जा रही है। 'शीश की हड्डी तोड़े जाने से हमारा तात्पर्य मस्तिष्क के विचारों को तोड़ देने के उस प्रयास से होना चाहिए जो सत्तापोषी वर्ग द्वारा किए जा रहे हैं। काव्यनायक के मस्तिष्क से संस्था के जिस सेक्रेटरी को' खोज निकालने की कोशिश की जा रही है यह वर्ग इसे आस्था के नाम से जानता है। स्पष्ट है कि यह आस्था मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति आस्था है और काव्यनायक सर्वहारा के

अधिकारों की रक्षा के लिए विचारों की मणियों का संग्राहक है। शीश की हड्डियाँ तोड़ने के प्रयास से तात्पर्य भी यही है कि उन तमाम वैचारिक आस्थाओं को खत्म कर देने का प्रयास किया जा रहा है जो सत्ता के विरोध में सर्वहारा को संगठित कर सकता है। 'शीश की हड्डी तोड़े' जाने से किसी मृत्यु कल्पना का आभास प्राप्त कर लेना और फिर मुक्तिबोध को सिजोफ्रेनिक सिद्ध कर देना उचित नहीं प्रतीत होता है।

असामान्य मानसिक संरचना का पता पाने के लिए शर्मा जी ने 'ब्रह्मराक्षस', 'ओ काव्यात्मन् फणिधर', 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' जैसी कविताओं का भी ऐसा ही उपयोग किया है। मुक्तिबोध की फंतासी को उनकी असामान्य मानसिक संरचना का उत्पाद घोषित करने के लिए उन्होंने एक बेहद प्रामाणिक तथ्य का उपयोग किया है। यह प्रामाणिक तथ्य है, मुक्तिबोध के छोटे भाई शरच्चन्द्र माधव मुक्तिबोध का संस्मरण जिसमें उन्होंने अपने भाई को अपने तई ईमानदारी से प्रस्तुत किया हैं शर्मा जी का मानना है कि स्वयं शरच्चन्द्र का लेख भी मुक्तिबोध की असामान्य मानसिक स्थिति का ही पता देता हैं। शर्मा जी ने संस्मरण के लम्बे उद्धरण उद्धृत किए हैं। कुछ जगहों पर उन्होंने लुप्तीकरण चिह्न का प्रयोग किया है। ये लुप्तीकरण चिह्न मुक्तिबोध के बारे में शरच्चन्द्र की मूलभूत अवधारणाओं को लुप्त कर देता है। मसलन शर्मा जी ने जो उद्धरण दिया है, वह इस तरह है— *''भाई साहब अत्यन्त भावुक, अर्न्तमुख प्रवृत्ति के, सरल और उदार थे। उतने ही एकदम आत्मकेन्द्रीय और अपनी हर जिद पर कायम रहने वाले बन गए थे... जीवन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया बौद्धिक और तटस्थ नहीं थी, तीव्र भावनात्मक होती थी, ऐसी आत्मलीन प्रवृत्ति, मन की ऐसी उड़ान, और निजी परिस्थिति के संबंध में ऐसा गहरा अज्ञान कि उसका पहला वार लगते ही भाई साहब का व्यक्तित्व दुखी नजर आने लगा।''*[२०]

शर्मा जी के उद्धरण में जो पंक्ति ग़ायब है उसको सामने रखकर मुक्तिबोध को सिजोफ्रेनिक सिद्ध करना मुश्किल ही नही असंभव हो जाएगा।

शरच्चन्द्र लिखते हैं— *"...जीवन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया बौद्धिक और तटस्थ नहीं थी, तीव्र भावनात्मक होती थी। वह भी ऐसी उच्च नैतिक भावनात्मक प्रतिक्रिया थी कि उनकी कविता आधुनिक भारतीय मनोदशा पर किया हुआ एक महत्वपूर्ण भाष्य ही बन गई। ऐसी आत्मलीन प्रवृत्ति..."*[२१]

केवल अवचेतन के भावों पर आधारित संवेदनात्मक प्रतिक्रिया पर असामान्य मानसिक स्थिति का प्रक्षेपण तब तक आसान होगा जब तक कि हम हृदय-संवेद्य रूप से उस भावनात्मक प्रतिक्रिया की उच्चता, उदात्तता और नैतिकता पर ठहर कर विचार नहीं करते।

मुक्तिबोध की फंतासी को उसकी मानसिक संरचना से जोड़कर देखने का मतलब मानसिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में फंतासी का विश्लेषण है न कि फंतासी की संरचना के परिप्रेक्ष्य में कवि या कलाकार की मानसिक संरचना का विश्लेषण जैसा कि राम विलास शर्मा ने किया हैं। उन्होंने मुक्तिबोध की कविताओं से ऐसे उद्धरण चुन—चुनकर सामने रखे हैं जो सिजोफ्रेनिया से साम्य रखते थे। उन्होंने किसी ऐसी प्रतिक्रिया का उल्लेख नहीं किया जिसका वस्तुओं व घटनाओं से तालमेल न बैठता हो। शर्मा जी ने इस बात का उल्लेख भी नहीं किया कि मुक्तिबोध के आनंद—सिद्धांत के केन्द्र में क्या है, सामान्य सामाजिक मान्यताओं और सभ्यता के प्रतिकूल भावना का प्रायः सभी मनुष्य दमन करता है या उन्हें इसका दमन करना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य का अवचेतन इस दमन की प्रतिक्रिया देता है। जो प्रतिक्रियाऐं सभी मनुष्य से जुड़ी हुई है, वह बकौल मुक्तिबोध मनुष्य की कमजोरी नहीं, बल्कि मनुष्य की प्रकृति का गुण-धर्म हैं।

मुक्तिबोध की फंतासी में जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियाऐं हैं, उसका संबंध उन घटनाओं, परिस्थितियों, व्यवस्था और सामाजिक मानदण्डों से है, जो मुक्तिबोध के आनंद—सिद्धांत के केन्द्र में है। केवल साहित्य ही क्या, बल्कि कला के सभी रूप कलाकार के अवचेतन की प्रतिक्रियाऐं हैं। यह सम्भव है

कि वे संवेदनात्मक प्रतिक्रियाऐं मूल्य या निष्कर्ष रूप में हमारे लिए ज़्यादा महत्व की न हो पर इतना तो अवश्य है कि इसे से सभ्यता–समीक्षा का नया पाठारम्भ होता है। यह बात केवल फंतासी पर ही नहीं बल्कि किसी भी कला रूपों पर लागू होती है। मुक्तिबोध ने भी कामायनी की समस्या को प्रसाद जी से जोड़कर देखा, परन्तु उन्होंने अपनी असहमति जतायी भी तो उन निष्कर्षों से जो श्रद्धावाद के द्वारा प्रकट करने की कोशिश की गई थी। उन्होंने कामायनी के शिल्प से अपना कोई सरोकार नहीं रखा, सिवाय इसके कि वह एक फंतासीपरक रचना है। शर्मा जी वस्तुत: फंतासी के शिल्प से ही जुड़े रह जाते हैं, उन समस्याओं से नहीं, जिनका संबंध मुक्तिबोध के अवचेतन से है। शर्मा जी जिन छोटी–छोटी घटनाओं के माध्यम से निष्कर्ष निकालते हैं, उससे यह स्वाभाविक ही था कि वे भ्रामक निष्कर्ष तक पहुँच जायें।

फंतासी को एक जरूरी शिल्प के रूप में परखा जाना चाहिए, जिसमें मुक्तिबोध ने तीव्र ज्ञानात्मक संवेदन के सहारे जीवन की पुनर्रचना की और समय का भाष्य प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ—सूची

१ . मुक्तिबोध रचनावली भाग १, पृ. — १८

२ . मुक्तिबोध पृ. — १०

३ . मुक्तिबोध की आत्मकथा , पृ. — ६७

४ . मुक्तिबोध पृ. — १७

५ . मुक्तिबोध की आत्मकथा — ६८

६ . मुक्तिबोध पृ. — २३

७ . गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ. — १२

८ . वही पृ. — ८

९ . प्रतिनिधि रचनाएँ, फैज अहमद फैज, पृ. — १७

१०. नयी कविता का आत्मसंघर्ष, पृ. — ३५

११. मुक्तिबोध पृ. — २८

१२. मुक्तिबोध की आत्मकथा — १२०

१३. वही १२७

१४. वहीं — १८७

१५. एक साहित्यिक की डायरी पृ. — ६०

१६. कामायनी पृ. — ११

१७. नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ. — २१८

१८. वही पृ. — २१९

१९. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — २८३

२०. नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ. — २२२

२१. गजानन माधव मुक्तिबोध, पृ. — १२

तृतीय अध्याय

मुक्तिबोध की कुछ महत्वपूर्ण फंतासियाँ—मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन

एक

मुक्तिबोध का बहुमुखी रचनाशील व्यक्तित्व निबंध, कहानी, उपन्यास से लेकर कविता के लोक तक विचरण करता रहा है। इस तरह से उनके रचना–कर्म में एक विशाल फैलाव दिखलाई पड़ता है। रचना–कर्म के इस विस्तार में भी उनका कवि–व्यक्तित्व कहीं अधिक भास्वर, उर्जस्वित और विराट् है। सम्भवत: यही कारण है कि प्रथम दृष्ट्या मुक्तिबोध नाम की शख़्सियत एक कवि के रूप में ही स्मृत होती है। उनकी आलोचना एवं आलोचनात्मक निबंधों में वैचारिक पैनापन, चिन्तन की गहराई, अद्‌भूत तार्किकता एवं स्पष्टता का बेजोड़ संगम दिखलाई पड़ता है। वे कहानीकार भी अच्छे हैं। उपन्यास लेखन में वे ज़्यादा रमे नहीं, अलबत्ता 'विपात्र' (कुछ आलोचक विपात्र को लम्बी कहानी ही मानते हैं, परन्तु राजकमल से प्रकाशित उनकी प्रतिनिधि कविताओं के संकलन में संकलनकर्त्ता अशोक वाजपेयी ने इसे उपन्यास माना है) नामक एक उपन्यास भी उन्होंने लिखा है। लेखन में इतनी विविधता के बावजूद वे प्रथमत: एक कवि ही हैं। इसका सबसे बड़ा कारण बाह्य जगत एवं अन्तर्जगत् के द्वन्द्वों की प्रतिक्रिया एवं उन प्रतिक्रिया के सहारे जीवन बोध को अधिकाधिक एवं स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर पाने का काव्य–सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य भी सर्वाधिक उत्कृष्ट रूप में उनकी फंतासी में दृष्टिगोचर होता है, इसलिए वे एक ऐसे कवि के रूप में अधिक स्मृत होते हैं, फंतासी जिनकी कविता का प्राण है।

'मुक्तिबोध रचनावली' भाग – १ एवं भाग – २ में उनकी प्राय: सारी पूर्ण–अपूर्ण, प्रकाशित–अप्रकाशित कविताओं का संग्रह किया गया है। सम्पादक श्री नेमिचन्द्र जैन ने कविताओं का संकलन करते हुए सम्भावित रचनाकाल का उल्लेख किया है और रचनाकाल को ध्यान में रखते हुए उन्हें आरोही क्रम में स्थानाबद्ध किया है। रचनावली के प्रथम खण्ड में १९३५ से

१९५६ तक की एवं दूसरे खण्ड में १९५७ से १९६४ तक की कविताओं को संकलित किया गया है।

मुक्तिबोध की प्रारम्भिक रचनाओं में फंतासी परकता का प्रायः अभाव दिखाई पड़ता है। वैसे भी १९४९ के पूर्व उन्होंने लम्बी कविताऐं कम ही लिखी थीं, इसके पूर्व लिखी गई कविताओं का कलेवर अत्यन्त लघु है। उनकी लम्बी कविताओं में, ख़ासकर १९४९ के पश्चात् लिखी गई कविताओं में फंतासीपरकता सर्वाधिक सघन रूप में मौजूद है। इन उत्तरकालीन रचनाओं का स्वर भी पूर्ववर्ती रचनाओं के मुक़ाबले ज़्यादा यथार्थजन्य है। पूर्ववर्ती अधिकांश रचनाऐं छायावादी प्रभाव लिये हुए हैं, विशेषतः १९३५ से १९३९ के दौर की रचनाऐं।

१९४९ के बाद ही रचनाओं का दौर जिसमें कि फंतासीपूर्ण रचनाऐं अधिक लिखी गई उन परिस्थितियों की ओर संकेत करती हैं, जिसमें फंतासी की रचना सम्भव हो सकी। मुक्तिबोध लिखते हैं कि *''कामायनीकार के ह्रदय में चिरकाल से संचित, जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं, जो तीव्र दंश हैं, जो निगूढ आघात है, उन सब में एक जीवन आलोचनात्मक व्याख्यान के सूत्र हैं। ये सब प्रतिक्रियाएँ, ये सब दंश और आघात् जीवन—आलोचनात्मक वेदना से युक्त होकर उस फेंटेसी में प्रकट हुए हैं जिसे हम कामायनी कहते हैं।''*[१] कामायनीकार के सन्दर्भ में कही हुई ये बातें इस सन्दर्भ में हमारा भी मार्ग—दर्शक हैं।

मुक्तिबोध का व्यक्तिगत जीवन भी बेहद उतार—चढ़ाव भरा रहा है। जीवन के इस दौर में व्यक्तिगत कठिनाइयाँ भी बढ़ गयी थी। काव्य में इन परिस्थितियों के आघात की प्रतिक्रियाएँ भी फंतासी का स्वरूप ग्रहण कर सकती हैं। मुक्तिबोध की फंतासी में उपस्थित आघात्, दंश और उनसे सम्बद्ध संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं का संबंध सम्यता और संस्कृति के सुदूर प्राक्—कालीन मान्यताओं—मिथकों से भी है, जो बहुत दूर तक मनुष्य के अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। परन्तु इन सब से अलग फंतासी के

निर्माण में उन वर्त्तमान परिस्थितियों का योगदान भी कमतर नहीं होता, जिस में रहते हुए व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त होने के लिए विकल हो उठती हैं। स्वतन्त्रता के बाद ऐसी कौन–सी वास्तविकताएँ थी, जो फंतासी के उद्‌गम का स्त्रोत बनीं। क्या उन वास्तविकताओं के प्रति कवि की प्रतिक्रिया ठीक है। वह विश्वदृष्टि कैसी है, जो मुक्तिबोध की चेतना को आप्लावित करती रही है इन सवालों के जवाब कुछ तो फंतासी के भीतर हैं और कुछ बाहर, जो हमारे विश्लेषण का विषय है।

विश्लेषण के केन्द्र में स्वाभाविक रूप से १९४९ से लेकर १९६४ तक की फंतासीपरक रचनाऐं ही हैं। इस दौर की रचनाओं के साथ एक विस्मित और आश्चर्यचकित कर देनेवाली बात उसका रचनाकाल है। प्रायः सभी रचनाऐं औसतन पाँच से छः वर्षो तक, बार–बार रची जाती रहीं। उनकी लेखन–यात्रा में इस दौर का महत्व इस बात को लेकर भी है कि यह दौर उनकी एक दम निजी और विशिष्ट स्वर की पहचान बन गयीं।''

इसी दौर में 'ब्रह्मराक्षस' 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'दिमाग़ी गुहान्धकार का ओराँगउटाँग' एवं 'अँधेरे में' जैसी फंतासियाँ रची गईं। 'अँधेरे में' का सम्भावित रचनाकाल १९५७ से १९६२ के मध्य है, इस में अंतिम संशोधन १९६२ में किया गया। प्रारम्भ में यह कविता 'आशंका के द्वीप अँधेरे में' नाम से लिखी गयी थी। प्रायः इसी दौरान वे कई अन्य कविताओं पर भी विचार करते रहे थे; मसलन 'ब्रह्मराक्षस', 'लकड़ी का रावण', 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'ओ काव्यात्मन् फणिधर', 'इस चौड़े टीले पर' आदि। एक–एक कविता पर इतने लम्बे समय तक विचार करते रहना और वह भी एक साथ कई कविताओं पर, जिस मानसिक दशा की सूचना दे रहा है उसका संबंध न केवल ज़ीवनानुगत अनुभवों के प्रति रचनाकार की संवेदनात्मक क्रिया–प्रतिक्रिया से है, बल्कि अनुभवों के तीव्रतर होते जाने एवं वैचारिक प्रक्रिया की निरंतरता से भी है।

जीवन और समाज की बेहद चित्रपूर्ण एवं आनुभाविक समीक्षा कर लेने के उपरांत अपने अंतिम दिनों में मुक्तिबोध ने 'अँधेरे में' कविता लिखी थी।

यह आवश्यक नहीं कि इन अन्तिम दिनों में लिखी हुई (वस्तुतः पूर्ण हुई, क्योंकि यह कल्पना नवम्बर १९६४ में उनके मृत्योपरांत प्रकाशित हुई थी) यह कविता उनके जीवनानुभवों या जीवन–संबंधी निष्कर्षों की पराकाष्ठा भी हो और उसका निकष भी, लेकिन मनोविश्लेषण में एक तार्किक क्रमपरकता को ध्यान में रखते हुए फंतासी के विश्लेषण को प्रायः उसी क्रम में रखने की कोशिश की गई है, जैसा कि 'मुक्तिबोध रचनावली' में संग्रहित है। क्योंकि मुक्तिबोध एक ही रचनाकाल में कई कविताओं की रचना एवं निरंतर 'गहरी छील–छाल' करते रहे हैं इसलिए विश्वसनीय रूप से यह कहना ठीक प्रतीत नहीं होता कि 'अँधेरे में' को ही उनकी अंतिम रचना मानी जाय, परन्तु इस दिशा में इस संबल के साथ कि *'' 'अँधेरे में' मुक्तिबोध के प्रतिनिधि काव्य–संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की ही अंतिम कविता नही, कदाचित् उनकी अंतिम रचना भी है, जिसे कवि–कर्म की चरम परिणति भी कहा जा सकता है।''*[२] — आगे बढ़ना उचित होगा।

मुक्तिबोध की फंतासी में उनकी अपनी मान्यता के अनुरूप ही केवल क्रिया–प्रतिक्रिया या इच्छित विश्वास ही नहीं बल्कि अन्ततः जीवन–समस्याओं का इच्छित समाधान भी प्रस्तुत हुआ है। मुक्तिबोध के इस काव्यरूप का एक समग्र विश्लेषण कई तरीके से किया जा सकता है, जिसमें एक तरीका मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन भी है। मुक्तिबोध की फंतासी का विश्लेषण मैंने समग्रतः न कर, अलग–अलग कविता के रूप में ही किया है, परन्तु इस समझ के साथ कि फंतासी के बीच एक अटूट भावात्मक रिश्ता है, जिसका प्रभाव — इसके बावजूद भी समग्र ही रहेगा।

सन्दर्भ—सूची

१ . कामायनी एक पुनर्विचार, पृ. — ८

२ . कविता के नये प्रतिमान, पृ. — २३०

दो

क. मेरे सहचर मित्र

मुक्तिबोध ने एक प्रसिद्ध लेख लिखा है, 'मेरी माँ ने मुझे प्रेमचन्द का भक्त बनाया'। इस लेख में उन्होंने प्रेमचन्द के रचना संसार से अपने जुड़ाव एवं उससे प्रेरित-प्रभावित होने का ज़िक्र किया है। मुक्तिबोध की माँ प्रेमचन्द की पाठिका थी। जब मुक्तिबोध बच्चे थे, कुछ पढ़ना—समझना शुरू किया, स्वभावतः प्रेमचन्द के साहित्य से उनकी वाकफ़ियत बढ़ी। प्रेमचन्द के साहित्य का उनके उपर जो प्रभाव पड़ा, उसका ज़िक्र उन्होंने, अपने इसी उक्त लेख में किया है— *'मेरी प्यारी श्रद्धास्पद माँ यह कभी न जान सकी कि वह किशोर हृदय में किस भीषण क्रांति का बीज बो रही है, कि वह भावात्मक क्रांति अपने पुत्र को किस उचित—अनुचित मार्ग पर ले जाएगी, कि वह किस प्रकार अवसरवादी दुनिया के गणित से पुत्र को वंचित रखकर उसके परिस्थिति—सामंजस्य को असम्भव बना देगी।'*[१] उद्धरण का तात्पर्य यह कि मुक्तिबोध के मानस में प्रगतिशीलता के तत्त्व किशोरावस्था से ही जमने लगे थे। १९४१ में, वे शुजालपुर मंडी आए और एक शिक्षक के बतौर कार्य करने लगे। यहीं उनकी मुलाक़ात नेमिचन्द्र जैन से हुई, बाद में नेमिचन्द्र जैन के प्रभाव में आकर वे मार्क्सवादी हो गये। १९४२ में मुक्तिबोध ने उज्जैन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। 'मेरे सहचर मित्र' — एक वर्गीय चेतना की कविता है। यह कविता १९५१—५२ के दौर में लिखी जानी शुरू हुई थी। इस कविता के सम्बन्ध हमें उपर्युक्त पृष्ठभूमि का ध्यान रखना पड़ेगा। जिस से कि कवि का चिन्तन—कर्म प्रभावित हुआ है। कविता की व्याख्या इसके पात्रों एवं कवि की संवदेनात्मक प्रतिक्रियाओं के आधार पर ही की जा सकती है क्योंकि वस्तुतः कविता के पात्र ही कवि के उद्देश्य का वाहक हैं। कविता का आरम्भ होता है, काव्यनायक अपने मित्र से सवाल करता है... *क्यों*

चढ़ा स्वयं के कन्धों पर/यों खड़ा किया/नभ को छूने, मुझको तुमने/अपने से दुगुना बड़ा किया/मुझको क्योंकर?''[२] काव्यनायक के मन में ये प्रश्न यूँ ही नहीं आते। इसका कारण है उस सहचर मित्र का, जीवन भर के श्रम और अनवरत कर्म–साधना से प्राप्त असफलता और पीड़ा का ज़िक्र करना। 'जिन्दगी के फूटे घुटनों से बहती रक्तधार का ज़िक्र' करते हुए अब किस आकाश को प्राप्त करने की चाहत है, काव्यनायक के सहचर मित्र के भीतर। सहचर मित्र अपना उत्तर देता है। परन्तु वह उत्तर सुनाई नहीं देता, दिखाई देता है। फंतासी के इसी स्तर पर हमें पता चलता है कि काव्यनायक और सहचर मित्र वस्तुतः दो पात्र नहीं कवि के अपने ही व्यक्तित्व के दो रूप हैं, जो परस्पर द्वन्द्व की स्थिति में आकर अपने होने की सार्थकता की पहचान करना चाहता है। 'सहचर मित्र' कवि का अवचेतन है, जो अपने हिस्से का आकाश पा लेना चाहता है। वस्तुतः यह अवचेतन सर्वहारा के जीवन में औदात्य चाहता है। इसीलिए कवि का चेतन-मन जब सवाल पूछता है, उसका अवचेतन प्रतिक्रिया में एक ऐसे इच्छित संसार का स्वरूप सामने रखता है, जिसमें बूटों के नीचे दबा हुआ तुच्छ मिट्टी का ढेला विस्तृत होकर नभ–चुम्बी कैलाश-शिखर में परिवर्तित हो जाता और उस आकाश में एकल उड़नेवाली चिड़िया (असंगठित सर्वहारा) वन–पक्षिराज (उत्पादन का हिस्सेदार संगठित सर्वहारा) बनकर उस कैलास–शिखर पर बास करती। कवि का अवचेतन पक्षिराज के रूप में परिवर्तित हो जाता है और विस्फारित क्षेत्र चेतन-मन से अपनी बात कहता है– *''ओ मित्र, तुम्हारे घर आँगन को शैलांचल–गिरिराज शिखर तो होने दो/वह आसमान तो झुकने दो/उसके मुख पर/इस समय बात के पूरे नहीं अधूरे तुम, कमजोर–प्रखर होना बाकी/अब बूटों–दबा दीन ढेला/कैलाश–शिखर होना बाकी।''*[३] अशोक चक्रधर का मानना है कि *''कर्त्ता–वाचक–नायक मध्यवर्ग का चेतस व्यक्ति है एवं सहचर मित्र सर्वहारा वर्ग है।''*[४] व्यवहारिक समीक्षा के लिए इस तरह का वर्गीकरण एक ऐसा सरलीकरण है, जो समीक्षक को कवि

के व्यक्तिगत वैचारिक आग्रहों और द्वन्द्वों के विश्लेषण से मुक्त कर देता है। अगर हम इसी क़िस्म के वर्गीकरण के सहारे चलें तो हमारे लिए यह जान पाना मुश्किल होगा कि कवि की आग्रहों का केन्द्र क्या है? कवि के आग्रह का केन्द्र मानव–समाज के रूपान्तरण की विधि गढ़ना है। वह मनुष्य की व्यथा–कथा का मर्म उद्घाटित करना चाहता है। वह मनुष्य के स्वभाव से साक्षात्कार चाहता है। वह मानव–सभ्यता के सभी समस्याओं को जान लेना चाहता है। कवि के आग्रह के केन्द्र में जो मुद्दे हैं, यही उसके आनंद–सिद्धांत के केन्द्र में हैं।

द्वन्द्व की अवस्था प्राय: मूर्च्छितों की अवस्था ही होती है, जो जीवित है या मृत कहना मुश्किल होता है? कवि के चेतन की प्रतिक्रिया में अवचेतन एक दूसरा परिदृश्य उपस्थित करता है। पहले बादल फिर ऊर्जा की ही प्रतिकृति पसीने से लथ–पथ लाल और भव्य मानव–मुख में परिवर्तित हो जाता है। मानों लगातार संघर्ष करता हुआ घाव–भरे चेहरे का कोई सैनिक। द्वन्द्व की अवस्था में पड़ा हुआ चेतन मन जो एक ओर अपने सहचर-मित्र के 'वक्षस्थल के भीतर के अन्तस्तल का पूरा विप्लव जी लेना चाहता है, तो दूसरी ओर 'ज़िन्दगी के फूटे घुटनों से बहती रक्तधार का ज़िक्र' भी नहीं सुनना चाहता, एक मुर्च्छित अवस्था में ही है, जिसकी सम्भावनाऐं संघर्ष की राह पर एक सैनिक की-सी हो सकती हे।

वह सैनिक (अवचेतन का आग्रह ही तो है) द्वन्द्व में पड़े चेतन मन को मानव सभ्यता के इतिहास के सम्मुख खड़ा कर देता है। फंतासी की संरचना के कारण द्वन्द्वयुक्त काव्यनायक अपने सहचर–मित्र एवं परम्परा–पुरूष (जो पीड़ा की इतिहास–पुस्तक पढ़ रहा है और जिसने देश–देशान्तर के अनुभव ग्रंथ, वेद, जातक का अध्ययन किया है एवं अशोक चक्रधर के अनुसार कार्ल–मार्क्स हो सकता है) की बातचीत ही सुन पाता है। परन्तु वस्तुत: ऐसा

है नहीं, असल में द्वन्द्वयुक्त काव्यनायक मनुष्य के पूरे इतिहास से रू–ब–रू कराया जाता है, तब उसे पता चलता है कि–

''क्यों खड़ा किया नभ को छूने
अपने से दुगुना बड़ा किया''[५]

ताकि 'मैं' (कवि का चैतन्य स्वयं)

''स्याह–चन्द्र का फ़्यूज बल्ब
जल्दी निकाल
पावन–प्रकाश का प्राण बल्ब
वह लगा सकूँ''[६]

मनुष्य के पूरे इतिहास से गुजरते हुए ही उसे पता चलता है कि वह एक जड़ लेखक है (यहाँ आकर चक्रधर जी मान लेते हैं कि इस 'मैं' से, *''कर्ता के अंदर से स्वयं कवि मुखरित हो रहा है। यह उसके आत्मपरक तथ्य हैं''*)[७] बचपन से ही सर्वहारा की मुक्ति की आकांक्षा कवि के चेतन में रही परन्तु सर्वहारा की पीड़ा के इतिहास (अक्षयवट) से साक्षात्कार के पूर्व वह केवल आकांक्षाऐं ही थी। इस चिन्ता में उसने बेचैन होकर अंजाने ही असंतोष के सर्पों को सर्वहारा की पीड़ा के इतिहास पर रगड़ा है। कवि को आत्मतोष है कि अगर इस इतिहास से उसका साक्षात्कार न हुआ होता तो वह पूँजीवादी व्यवस्था में बैल के भूसे की तरह पड़ा होता।

इस इतिहास से साक्षात्कार के बाद ही उसे पता चलता है कि अन्जाने ही वह भी इस पीड़ा को झेलता रहा है। उसके मन में कई सवाल पैदा होते हैं– *''...क्यों मानव के इस तुलसी–वन में आग लगी,/क्यों मारी–मारी फिरती है/मन की यह गहरी सज्जनता/दु:ख के कीड़ों ने खायी क्यों,/ये जूही–पत्तियों जीवन की,/निर्माल्य हुए क्यों फूल युवक/युवती जन के/क्यों मानव–सुलभ सहज/आकांक्षाओं के तरू/यों ठूँठ हुए वृन्दावन के/मानव आदर्शों के गुम्बद में आज यहाँ/उलटे लटके चिमगादड़ पापी भावों के/क्यों स्वार्थ–घृणा–कुत्सा के थहर जंगल में/हैं भटक गये थे लक्ष्य/पुराने पावों*

के।''[८] मानव–सभ्यता के इतिहास से रू–ब–रू होते ही कवि का चेतन सजग और सक्रिय हो जाता है, अब वह 'आनंद–सिद्धांत' भी भाषा बोलने लगता है। सम्पूर्ण इतिहास की समीक्षा करते हुए जब उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करता है, तब वह इस निर्णय पर पहुँचता है– समाज में व्याप्त इन तमाम विसंगतियों का *''वह कारण, सामाजिक जंगल का घुग्घू है,/है घुग्घू का संगठन, रात का तम्बू है।''*[९] 'सामाजिक जंगल का घुग्घू' यह कौन है? रात का शिकारी पक्षी, जिसका आकाश में उड़ती हुई चिड़िया (सर्वहारा) के बरअक्स पूँजीपति बुर्जुआ अर्थ ग्रहण किया जा सकता है– यह शोषक व्यवस्था का प्रतीक है। वर्गीय विषमताओं की परख और उसका कारण जानने के बाद कवि का चेतन अपना आलस्य त्यागता है और अपने अवचेतन से हाथ मिलाता है–

''संघर्ष–मार्ग–इतिहास–मर्म कहती ही है
ओ मेरे सहचर मित्र,
क्षितिज के मस्तक पर नाचती हुई
दो तडिल्लताओं में मैत्री रहती ही हैं।''[१०]

इतिहास के मर्म के ज्ञानाभाव में कवि अपने अभ्यंतर का साथ नहीं दे पाता, पर जब उसे इसका ज्ञान हो जाता है, अपने इस बोध के प्रति वह सजग हो जाता है। ज्ञानात्मक संवेदन, संवेदनात्मक ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है। जीवन–जगत् संबंधी इस ज्ञान को प्राप्त कर, कवि फूटे घुटनोंवाले सर्वहारा के कंधे पर चढ़कर आकाश में श्रम–निर्मित बल्ब लगाने को तत्पर हो जाता है। अर्थात् व्यवस्था में बदलाव के लिए कवि के अन्दर सकर्मक भाव पैदा होता है, उसे एक सार्थक लक्ष्य मिल गया है।

ख. जब प्रश्न–चिह्न बौखला उठे

मुक्तिबोध की कविता में एक वर्गीय चरित्र दिखाई पड़ता है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने का एक परिणाम यह हुआ कि मुक्तिबोध के चिन्तन में वर्ग की अवधारणा केन्द्रीभूत हो गयी। 'मेरे सहचर मित्र' कविता की तरह ही यह कविता भी मनुष्य की सभ्यता के इतिहास का पुनर्पाठ है। परन्तु 'मेरे सहचर मित्र' के विपरीत इसमें काव्यनायक को सभ्यता का भाष्य बतलाया नहीं जाता, वह इससे पूर्व–परिचित होता है।

'जब प्रश्न चिह्न बौखला उठे' में मुक्तिबोध मानव–सभ्यता के इतिहास को भी वर्गीय दृष्टि से देखते हैं और उसमें से सर्वहारा के संघर्षो एवं जन–विजय की घटनाओं को बाहर निकालकर संघर्षो को नयी प्रेरणा से लैस कर देते हैं। इस तरह से इतिहास उनके लिए एक हेतु है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'इतिहास' कवि के सुपर–ईगो का निर्माण कर रहा है, क्योंकि बहुधा अपने अभ्यंतर की आकांक्षाओं को पूरा करने के बदले कवि (अर्थात् काव्यनायक, जिसका एक सार्वभौमिक पक्ष भी है) का ईगो समस्याओं से दूर भागता रहता है, परन्तु जैसे ही इतिहास (या इतिहास पुरूष) का सामना होता है, वह पलायनवादी विचारों को झटककर एक सकर्मक चेतना से लैस हो जाता है। इस कविता में भी कवि के सामने उठता हुआ प्रश्न जीवन का ही है। लिखते हैं–

''जीवन के प्रखर समर्थक से जब प्रश्न–चिह्न
बौखला उठे थे दुर्निवार,
तब एक समुन्दर के भीतर
कवि की उद्‌भासित छवियों का

गहरा निखार

स्वर्णिम लहरों में झल्लाता

झलमला उठा,'[११]

अर्थात् एक बार फिर से भावनाओं का दुर्लभ मूर्तिकरण। प्रारम्भ से ही फंतासी की बुनावट का आभास। जीवन के प्रखर–समर्थक के पास सवालों का अम्बार है। वस्तुतः यह विवरण सामाजिक जीवन में व्याप्त अपरिमित विसंगतियों की ओर इशारा कर रहा है। विसंगतियाँ अधिक थी अतः प्रश्न भी कई थे। प्रश्न–चिह्न के बौखलाने का व्यंग्यार्थ प्रश्नों का आधिक्य ही है। बहरहाल, जब प्रश्न खड़े हुए तो इतिहास के पृष्ठों से कई तप्त उत्तर भी प्रकट हुये। यहाँ 'समुन्दर' वस्तुतः वह इतिहास है, जहाँ से प्रश्नों के पूंज की प्रतिक्रिया में कई उत्तर एक साथ प्रकट हुये। परिणाम!

''मस्तिष्क तन्तुओं में प्रदीप्त

वेदना यथार्थों की जागी!!'[१२]

और जन यथार्थ की वेदना जगी तो उसने देखा वर्तमान समाज के उस अतीत को, जिसमें संघर्ष, त्याग, एवं बलिदान का रंग उतरा हुआ था। उसने एक ऐसा समाज देखा जिसके हर घर से एक प्रकाश निकला, उस आँगन का नीम हँसा, चिड़ियाँ बोली, फड़–फड़ाकर हर आँचल ने, मातृभाषा में नवोढ़ा बहुओं के कंगन ने कहा कि– मैं (कवि, द्रष्टा, स्रष्टा और श्रोता)

''जिस दुनिया में आज बसा,

जन–संघर्षों की राहों पर

ज्वालों से

माँओं का, बहनों का सुहाग सिन्दूर हँसा बरसा–बरसा'[१३]

यथार्थ की वेदना जगी तभी उसने देखा–

''...स्वयं अगरबत्ती से जल,

सुगन्ध फैला

जिन लोगों ने

अपने अन्तर में घिरे हुए
गहरी ममता के अगुरू—धूम
के बादल—सी
मुझको अथाह मस्ती प्रदान की
वह हुलसी वह अकुलायी
इस हृदय—दान की बेला में मेरे भीतर।
जिनके स्वभाव के गंगाजल ने,
युगों—युगों को तारा है,
जिनके कारण यह हिन्दुस्तान हमारा है
...उन जन—जन का दुर्दान्त रूधिर
मेरे भीतर—मेरे भीतर''[१४]

अर्थात् हमारी आज़ादी के हर एहसास और आज़ाद देश की हर जनता के रग—रग में बलिदान का बसंती रंग है।

यह कविता १९५३—५४ में लिखी गयी थी। इसलिए कवि के सामने उत्तर—स्वरूप जो परिदृश्य प्रस्तुत होता है, बलिदान से प्राप्त जिस आज़ादी की बात की जाती है, उसका संबंध हिन्दुस्तान की आज़ादी से है। मुक्तिबोध का इतिहास—बोध ही वस्तुत: उनकी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का केन्द्र बनता है। जन-संघर्षो का इतिहास एकत्र होकर मुक्तिबोध की प्रतिक्रिया के रूप में आत्मदर्शन, आत्मलोचन का भाव प्रकट करता है। जन—संघर्षों के उस इतिहास में बलिदानियों की यादों के गीत हैं। भूख और गरीबी से त्रस्त जनता के अधिकारों एवं सुख—चैन के लिए संघर्ष की राह पर ख़त्म हो जाने वाले सैनिकों—शहिदों के अंतिम शब्दों पर व्याकुल होकर न जाने कितने लेखकों—कवियों की क़लम चलती रही। जीवन—संघर्षों के उन दिनों में परित्यक्त और हांशिये पर के समाज में भी रौनक आ गयी थी—

''*दुबली चम्पा*

जन-संघर्षों में

गदरायी,

खण्डहर—मकान में फूल खिले, तल में बिखरे

जीवन—संघर्षों में घुमड़े

उमड़े चक्की के गीतों में

कल्याणमयी करूणाओं के

हिन्दुस्तानी सपने निखरे''[१५]

इस तरह इन गीतों में सम्पूर्ण इतिहास अपने पूरे रौब के साथ उपस्थित होता है और तब— ''सम्पूरन मानव की पीड़ित छवियाँ लेकर/जन—जन के पुत्रों के हिय में...'' मानव युंग के हिन्दुस्तानी झरने मचल उठते हैं। जीवन के त्रिकोणात्मक स्वरूप में मानव इतिहास वह बाह्य जगत होता है, जिसका अन्तरंग के द्वारा आभ्यंतरीकरण होता है। यह आभ्यंतरीकरण बाह्य के विरूद्ध या अनुकूल प्रतिक्रिया में घटित होता है। बाह्य के इसी आभ्यांतरीकृत रूप से चेतना का तत्त्व निर्मित होता है। मनुष्य के इतिहास रूपी समुद्र से जब उत्तर का सूरज झलमला उठा और सूरज ने मनुष्य के संघर्ष का इतिहास प्रस्तुत किया तब उसके प्रति कवि के अन्तरंग जीवन ने बेहद अनुकूल प्रतिक्रिया दी, उसमें आत्म—दर्शन का भाव जगा। इतिहास के आईने में वर्त्तमान का भावी स्वरूप दिखा।

''इन झरनों की बलखाती धारा के जल में

लहरों में लहराती धरती

की बाहों ने

बिम्बित रवि—रंजित नभ को कसकर चूम लिया,

मानव भविष्य का विजयाकांक्षी आसमान

इन झरनों में

अपने संघर्षी वर्त्तमान में घूम लिया।

ऐसा संघर्षी वर्त्तमान

तू भी तो हो,

मानव–भविष्य का आसमान

तुममें भी है'[१६]

मैंने पहले ही प्रस्ताव रखा है कि इतिहास को कवि के सुपर ईगो का निर्माता माना जाय। वस्तुतः इतिहास से ही कवि का चेतन मन स्वयं के भीतर सम्भावनाओं की पहचान करता है। भविष्य की ओर देखते हुए उसके मन में ख़याल आता है–

''मानव–दिगंत के कूलों पर

जिन लक्ष्य–अभिप्रायों की दमक रहीं किरनें

वे अपनी लाल बुनावट में

जिन कुसुमों की आकृति बुनने

के लिए विकल हो उठती हैं

उसमें से एक फूल है रे, तुम जैसा हो, वह तुम ही हो।'[१७]

कवि का बाह्य–आभ्यंतरीकृत–चेतन मन के 'अनुभवी ज्ञान–संवेदन की दुर्दम पीड़ा' से झलझला उठी!! जब उसने मानव–इतिहास की संघर्ष गाथा को दुनिया के सामने रखा, उसने देखा जनता (नक्षत्रों के तारे) की फौज उसके साथ है–

''नक्षत्र–मण्डलों में से तारागण उतरे

मैदान, धूप, झरने, नदियाँ सम्मुख आयीं

मानो जन–जन के जीवन गुण के रंगों में

है फैल चली मेरी दुनिया की

या कि तुम्हारी ही झाँई।'[१८]

फंतासी के इस पूरे रचाव में इतिहास-बोध से न केवल कवि का चेतन मन सकर्मक होता है, बल्कि उसमें एक सांगठिक भाव भी आ जाता हैं जब भी

प्रश्न चिह्न बौखलाता है अर्थात् जीवन के प्रखर समर्थक जब भी जीवन की विसंगतियों को लेकर प्रश्नाकुल होते हैं, तब मानव इतिहास का सच उसमें नयी संवेदना भरता है, जिसके आलोक में वह एक ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचता है '...जिनके अनुभव अस्त्रों से/वैज्ञानिक मानव–शस्त्रों से।' उनके ही सहचर वीरान-विरोधी दुर्गो की अखण्ड सत्ता को ठंडा रहे होते हैं। न चाहते हुए भी संघर्ष के पथ पर सहचर मिल ही जाते हैं क्योंकि 'दो तडिल्लताओं में मैत्री रहती ही है।' जीवन के प्रखर–समर्थक से जब प्रश्न चिह्न बौखला रहे होते हैं। संघर्षो के पथ पर तब *'ऐसे अवसर आते ही हैं, ऐसे सहचर मिलते ही हैं।'*[१९]

इतिहास बोध से उत्पन्न चैतन्य और सकर्मक भाव का आख़िर उपयोग क्या है? फंतासी में एक नया मोड़ आता है इतिहास-बोध कवि को वर्त्तमान में ला पटकता है वह अपने वर्त्तमान का संश्लेषण–विश्लेषण करने लगता है। वह कुछ करने को उद्यत होता हैं– *''जिसने मेरे भीतर की चट्टानी ज़मीन/अपनी विद्युत से यों खो दी, इतनी रन्ध्रिल कर दी कि अरे/उस अंधकार–भूमि से अजब/सौ लाल–लाल जाज्वल्यमान/मणिगण निकले/केवल पल में/देदीप्यमान अंगार हृदय में सँभालता हुआ उठता हूँ।'*[२०] उठते ही उसे अपने वर्त्तमान का बोध होता है– गरीब, असहाय, निर्बल और अबोध वर्त्तमान। तब वह भूख, गरीबी और तंगहाली के अन्तर मे उतरने की कोशिश करता है– *''मैं गया भूख के घर व प्यास के आँगन/चिन्ता की काली कुठरी में, तब मुझे दीखे कार्य–रत वहाँ/विज्ञान–ज्ञान/नित सक्रिय हैं/सब विश्लेषण–संश्लेषण में/मुझमें बिजली की घूम गयी थर–थरी/उद्दाम ज्ञान–संवेदन की फुरफुरी/ह्रदय में जगी/तन–मन में कोई जादू की–सी आग लगी/मस्तिष्क तन्तुओं में प्रदीप्त/वेदना यथार्थो की जगी।'*[२१] और पुनः उसकी मनः स्थिति में उद्विग्नता आ बैठती है। बेचैनी की उसी लहर में कई मटियाले चेहरों के पैरों को छूता है, यह 'मटियाला चेहरा' श्रमशील वर्ग का प्रतीक है, जिसके जीवन

को जीने एवं उसकी पीड़ा को पी लेने की बेचैनी कवि के भीतर उतर आती है।

इतिहास—बोध से प्राप्त ज्ञानात्मक संवेदन वर्त्तमान के प्रति अपनी सवंदेनात्मक प्रतिक्रिया देता है। जो इतिहास स्वतंत्रता—पूर्व के संघर्षों का बोध कराता है, वही वर्त्तमान की विसंगतियों के प्रति उत्साहित और सकर्मक भी बनाता है।

ग. चाँद का मुँह टेढ़ा है

इस कविता का सम्भावित लेखन–काल १९५३ से सन् १९६२ तक है। यह कविता पहली बार १९५७ की 'विविधा' में प्रकाशित हुई थी, परन्तु इस में परिवर्त्तन इस प्रकाशन के बाद भी हुये। इस कविता का अंतिम परिवर्तित रूप मुक्तिबोध के काव्य–संकलन 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में संकलित कविता का है।

वैसे तो कविता में स्पष्टत: जिस वर्ष की चर्चा की गई है यानी कि सन तिरपन, कविता की प्रारम्भिक समय–सीमा है, परन्तु अपने सम्पूर्ण कथ्य में इसका परिदृश्य, १९५३ के पूर्व और पश्चात् भी काल की लम्बी अवधि में फैला हुआ है। १९५३ का नागपुर मजदूर आंदोलन वह घटना है, जिसका कवि के मानस पर बड़ा तीव्र प्रभाव पड़ता है। फंतासी के सृजन का यही प्रारम्भिक क्षण है। मानसिक स्तर पर फंतासी का कार्यारम्भ ऐसी ही किसी घटना से होता है, जिसमें बेहद भावप्रवण आकांक्षा को चौकन्ना कर देने की शक्ति होती है।' 'मुक्तिबोध की मानसिक संरचना और फंतासी' नामक अध्याय में हमने उन तत्त्वों पर संक्षिप्त चर्चा की है, जो किसी घटना के प्रति हमारी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया को जागरित करता है। नागपुर–मज़दूर–आंदोलन का संबंध इस कविता से महज इतना है कि इस ने कवि के भीतर खौलते–खलबलाते ख़याल को रचना में परिवर्तित हो जाने की एक वज़ह दे दी है। यह कविता अपने वर्त्तमान से पीछे लौटने एवं पुन: आगे चलकर, भविष्य का नक़्शा तय करने की एक कोशिश है, ऐसी कोशिश, जिसमें कि 'सहचर मित्र' (मुझे प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध ने इस शब्द का प्रयोग बहुधा कामरेडशीप के अर्थ में किया है, अत: उसी को ग्रहण करते हुए) का साथ भी है और एक बहस भी। मुक्तिबोध की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया के केन्द्र में, वस्तुत: सभ्यतागत इतिहास रहता है और ऐसा प्रतीत होता हैं, कि सभ्यता के विकास में वर्गीय द्वन्द्वात्मक

संघर्ष का आग्रह उनके मानस में बद्धमूल हो चुका है। इस फंतासी के केन्द्र में सन् तिरपन का मज़दूर–आंदोलन केवल एक घटना के बतौर है, इसका संवेदनात्मक उद्देश्य बेहद व्यापक है। यह कविता उन्होंने एक पोलिश लेखिका और इलाहाबाद में तब एक शोध-छात्रा अग्नेश्का को सुनायी थी– *'मैंने अधूरी कविताएँ, लम्बी कविताएँ, डायरी, लेख-सभी अग्नेश्का को सौंप दिए। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता नगर के बीचोंबीच आधीरात–अंधेरे की स्याह बस्ती में कल सुना रहा था। नागपुर में वह कारख़ाने के अहाते के पार, कलमुँही चिमनियों के पार, ग़रीब बस्तियों के सुनसान उदास लोगों और जुम्मा टैंक के पास खड़ी तिलक की मूर्ति को देखकर आयी है, पौलेंड से आने पर हिन्दुस्तान में अग्नेश्का ने प्रजातंत्र के अजीब कर्फ़्यू का आतंक, कारतूस–छर्रे गोलियों की हाय–हाय भरी ज़िन्दगी यानी भारत की धरती पर चुपचाप ज़हरीली छीः थूः महसूस की है।'*[२२] इस उद्धरण से फंतासी की बनावट के सन्दर्भ में एक विशेष जानकारी प्राप्त होती है। फंतासी में आई ग़रीब बस्तियाँ और तिलक की प्रतिमा का कविता से संबंध केवल फंतासी परकता के कारण ही नहीं है; इसका घटनास्थल से भी संबंध है। कविता के संवेदनात्मक उद्देश्य को पकड़ने के लिए, कविता के दो हिस्सों को अलग–अलग पकड़ना होगा। ये दो हिस्से हैं– औद्योगिक समाज का शोषणमूलक, षडयंत्रकारी परिवेश एवं मज़दूरों का हड़ताल एवं कर्फ़्यू के सर्द मौसम में क्रमशः एकताबद्ध होते जाने का परिवेश। मुक्तिबोध के मानस में औद्योगिक समाज का जैसा स्याह, कुरूप, निर्मम और भयानक स्वरूप था, कविता के प्रारम्भ में बिल्कुल वैसा ही स्वरूप हमारे सामने उपस्थित करते हैं।–

''नगर के बीचोबीच
आधीरात–अंधेरे की काली स्याह
शिलाओं से बनी हुई
भीतों और अहातों के, काँच–टुकड़े जमे हुए

उँचे–उँचे कन्धों पर

चाँदनी की फैली हुई सँवलायी झालरें।'[२३]

ये ऊँची भीत और ये अहाते–सूचक हैं– सम्पदा–संग्रहण के। संसाधन के बहुत बड़े हिस्से जब किसी के पास संग्रहित हो जाते हैं, तब उसकी सुरक्षा-व्यवस्था करनी ही पड़ती है। इस सुरक्षित अहातों के बाहर–

''धूम–मुख चिमनियों के उँचे–उँचे

उद्‌गार–चिह्नाकार–मीनार,

मीनारों के बीचोबीच

चाँद का है टेढ़ा मुँह!!''[२४]

'चाँद' का प्रतीकार्थ पूँजीवादी व्यवस्था है। 'चाँद' का यह प्रतीकार्थ कविता में आगे स्पष्ट होता है। यहाँ प्रयोजनवश यह बतलाना वांछनीय है कि 'चाँद के टेढ़े मुँह' की व्यंजना उसकी कुरूपता को स्पष्ट करना है। प्रतीक का भी एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है। क्योंकि मुक्तिबोध के मन में पूँजीवादी व्यवस्था का एक घृणित स्वरूप ही अंकित था इसलिए उसका टेढ़ा होना लाज़िमी ही था। चाँद के इस टेढ़ेपन की एक और विशेष वज़ह इसका सन् तिरपन का होना है। मज़दूरों की हड़ताल ने पूँजीपति वर्ग के चेहरे पर अनिच्छा, क्रोध, इर्ष्या और बहुत कुछ भय के भाव पैदा कर दिये हैं। उसके मुँह के टेढ़ेपन से एक मुराद यह भी है।

मज़दूरों के हड़ताल को दबाने के लिए कारतूसों का सहारा लिया जा चुका है। इसका प्रमाण है पक्षियों के घोसलों में खाली कारतूसों का पाया जाना। शहर का वातावरण तनावपूर्ण है, चारों ओर उदासी का प्रसार है।

उधर मज़दूरों की बस्ती में भी भयपूर्ण वातावरण बना हुआ है। रात का दूसरा प्रहर, प्रायः बारह बज रहे हैं। हड़ताल को दबाने के लिए षडयंत्र एवं कर्फ्यू का वातावरण बनाया गया है।

मज़दूरों की बस्ती में प्रवेश करने वाली मोड़ पर एक बरगद है। बरगद बहुत पुराना है, मानों मनुष्य के आविर्भाव से भी पुराना। कहना न होगा कि अन्य दूसरी कविताओं की तरह बरगद यहाँ भी इतिहास की सुदीर्घ परम्परा का संचित ज्ञान–कोष है। गरीबों की इस बस्ती में चौराहे पर भैरों की प्रतिमा है–

''ग़रीबों के ठाँव में
चौराहे पर खडे हुए
भैरों की सिन्दूरी
गेरूई मूरत के पथरीले व्यंग्य स्मित पर
टेढ़े मुँह चाँद की ऐय्यारी रोशनी
xx xx xx xx xx
तजुर्बों का ताबूत
ज़िन्दा यह बरगद
जानता की भैरों यह कौन है!!'[२५]

यह भैरों कौन हो सकता है? यह भैरव एक देव है– अस्पृश्य, ग़रीब और वाममार्गी जनता की आस्था का अक्षय केन्द्र। जातियों और धर्मों में बँटे समाज में जिनके देव आभिजात्य नहीं हो सकते या जिन्हें देवालयों में जाने की अनुमति नहीं है, उनकी आस्था, उपासना और शक्ति का केन्द्र है भैरव। भैरव एक देव–प्रतिमा–मात्र नहीं है। मुक्तिबोध का मानस एक विचारशील मानस था। उन्होंने सभ्यता और संस्कृति का विभाजित स्वरूप बेहतर जाना था। उन्हें पता था कि चौराहे पर खड़े गाँधीजी और तिलक की प्रतिमा का सम्बन्ध मज़दूरों की आस्था–उपासना से नहीं है। अवसरवादी पतनशील पूँजीवादी व्यवस्था ने इनका बौद्धिक अपहरण कर लिया है। मज़दूरों की बस्ती में गाँधी और तिलक नहीं रहते। वहाँ 'आभिजात्य' लोगों की आस्था के केन्द्र से बाहर रहनेवाले श्मशान-वासी देव भैरव रहते हैं। शायद– 'दो तडिल्लताओं में मैत्री रहती ही है'। दो परित्यक्त एक–दूसरे के सहचर हो ही जाते हैं।

भैरव विभाजित सभ्यता की विभाजित आस्था का प्रतीक है इसलिए संघर्षो के दौर में भैरव मज़दूरों के संघर्ष का आस्थावान साथी भी है। भैरों का इतिहास क्योंकि बेहद पुराना है, इसलिए उसकी पहचान भी केवल बरगद को ही पता है।

मुक्तिबोध मज़दूर बस्तियों पर पसरे सन्नाटे के भीतर की सकर्मकता को जानते हैं– अंदर–ही–अंदर मंत्रणा, एक बहस। बहस का अंत एक निर्णय से होता है। मुक्तिबोध उस निर्णय का मानवीकरण करते हैं–

''...शब्दों के धार एक
बिजली के टार्च की रोशनी की मार एक
बरगद के खुरदुरे अजगरी तने पर
xx xx xx xx xx
फैल गये हाथ दो
मानों हृदय में छिपी हुई बातों ने सहसा
अँधेरे से बाहर आ भुजाएँ पसारी हों
फैल गये हाथ दो
चिपका गये पोस्टर''[२६]

निर्णय का पूरा असर होता है – मकानों की पीठ, अहातों की भीत, बरगद की डाल, अँधेरे के कंधे–सब पर पोस्टर चिपका दिये जाते हैं। चाँद के जासूस जो चरित्र में बिल्ली की तरह तेज, धूर्त्त और रक्तजीवी शोषक हैं, जिनके नाखूनों पर खून के ताजे धब्बे हैं, पोस्टर चिपकाने वालों की पहचान कर रहे हैं। चाँद का एक दूसरा जासूस उसकी रोशनी है, जो हड़ताली और पोस्टर चिपकानेवालों को जेल का डर दिखला रही है। मूलत: ये जासूस दण्ड और भेद की नीति से मज़दूरों की एकता को तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। जासूसों का एक अन्य दल चमगादड़ों का है, जो *''भटकता है प्यासा–सा,/बुद्धि की आँखों में/स्वार्थों के शीशे–सा!!*[२७]

बरगद को इन सब का इतिहास पता है। यह बरगद जानता है कि गाँधी और तिलक की सवारी करनेवाले सत्तासीन अवसरवादी ये पूँजीपति वर्ग मूलत: घुग्घू हैं। ये शोषण और तबाही की सारी योजना रात ही में बनाते हैं, जब सारी दुनिया सो रही होती है। गाँधी और तिलक की आड़ में इन्हें मजबूत सुरक्षा–कवच मिला हुआ है। रात के जिस अँधेरे में तनाव और सन्नाटे का साम्राज्य फैला हुआ है, ये दोनों बेहद निश्चिन्त होकर बातें कर रहे हैं गाँधी के पुतले पर बैठा घुग्घू तिलक की मूर्ति पर बैठे घुग्घू से बात करता है–

"...मसान में...
मैंने भी सिद्धि की।
देखो मूठ मार दी
मनुष्यों पर इस तरह'[२८]

तिलक के पुतले पर बैठा घुग्घू आसमान में मीनारों से उठते धुऐं को देखकर दंग रह जाता हैं और सोचता है, इसीलिए दिन के उजाले में भी अँधेरा अर्थात् तमाम गोरखधंधे फल–फूल रहे हैं। मनुष्यों को मारने के ये ही टोटके हैं तिलक के पुतले पर बैठे घुग्घू की प्रतिक्रिया वस्तुत: एक सच्चाई है, इसे मुक्तिबोध की प्रतिक्रिया भी माननी चाहिए। उन्होंने इस सत्य को नग्न कर दिया है कि गाँधी के मुखौटे में गाँधी का आदर्श बैठा हो, यह जरूरी नहीं। चाँद के जासूस केवल जासूसी ही नहीं करते वे लोगों का ध्यान भी बाँटते हैं। रोशनी जनता का ध्यान न केवल मनोरंजक कल्पना की ओर खिंचती है बल्कि कामुक कवियों की कामुक कविता की तरह ध्यान भटकाती भी है। इस तरह चाँदनी जासूसी करते हुए पोस्टर चिपकानेवालों की शिनाख्त भी करती है।

उस अँधेरे वातावरण में जीवन का व्यवसाय कई स्तर पर सक्रिय होते हैं। गाँधी के पुतले पर बैठा घुग्घू निश्चिन्तता का स्वाँग करता हुआ गाने लगता है। व्यवसायी अपने सट्टों और शेयरों से उलझे हैं। परिस्थितियों से भयभीत कोई बाबा हनुमान चालीसा का पाठ करता है। सत्ता के साझीधार अर्द्धसत्य के सहारे ईसा–बुद्ध आदि के अंत की घोषणा कर रहे हैं, परन्तु इसका असर नहीं

होता, मजदूरों की आस्था का इतिहास पुरूष भैरव इस मिथ्या – वाचन पर अट्टहास कर उठता है। इस इतिहास–पुरूष को पता है, जीवन का आगामी सत्य। मज़दूरों के इस हड़ताल में कलाकार और कारीगर भी साथ हो गये हैं

ज़माना नामक पेण्टर और शहर नामक कारीगर के बीच बात-चीत होती है। वस्तुतः पेण्टर ही कवि की स्थापना के केन्द्र में है। पेण्टर की आँखों में भविष्य का रंग दिखलाई पड़ता है। पेण्टर में कवि का संवेदनात्मक उद्देश्य समाया हुआ है। वह जानता है, पोस्टर की आग को इसीलिए यह सोचकर रोमांचित हो उठता है कि कैसा होगा, हड़ताली पोस्टर पढ़ते हुए लोगों का रेखा–चित्र। पेण्टर की कल्पना बतलाती है– उसकी आँखों में गृह–दीप–प्रकाश की जैसी आशाओं की चमक और हिम्मत होगी और वह निर्निमेष हड़ताली पोस्टर पढ़ रहा होगा। अर्थात् उस पोस्टर में वास्तविक जीवन का रंग होगा।

पेण्टर की कल्पना में डूबकर और उत्साहित हो कारीगर कहता है, उसने भी... *''धुएँ से कजलाये/कोठे की भीत पर/बाँस की तीली की लेखनी से लिखी थी/राम–कथा की व्यथा की/''*[२९] परन्तु अब इस पुलिसिया दमन के दौर में यह सम्भव नहीं।

ज़माने ने नगर के कंधे पर हाथ रखा और विश्वास पूर्वक कहा–

''पैरों के नखों से या डण्डे की नोंक से
धरती की धूल में भी रेखाएँ खींचकर
तस्वीरें बनाती हैं
बशर्ते कि जिन्दगी के चित्र–सी
बनाने का चाव हो
श्रद्धा हो, भाव हो।''[३०]

मुक्तिबोध, कलाकार की कला में जीवन के प्रति श्रद्धा भाव देखना चाहते थे। स्वयं उनकी अपनी रचना के लिए जीवन के प्रति यही श्रद्धा भाव एक कसौटी की तरह है। यही इच्छित विश्वास कि कला का मूल स्वर जीवनोन्मुखता है,

कवि के पूरे काव्य–कर्म का प्राण–तत्त्व है। जीवन के हर क्षेत्र के लिए बराबरी के दावे का आग्रह, इस कविता में भी खूब हुआ है। वे दोनों पोस्टर लगाकर चले जाते हैं–

''वेदना के रक्त से लिखे गये
लल–लाल घनघोर
धधकते पोस्टर''[३१]

इन पोस्टरों में कई आवाजें हैं, मसलन

– रायफल की गोली का प्रतिरोध है अक्षर

– ज़माने के पैगम्बर टूटता आसमान अपने कंधों पर थामते हैं।

– आदमी की दर्दभरी पुकार सुनकर, जो दौड़ पड़ता है वही आदमी है।

– (बराबरी का दावा) जैसे तुम भी आदमी वैसे मैं भी आदमी।

पोस्टारों की इस दुनिया से बाहर थोड़ा अलग हटकर और जुड़े रहकर भी दो इतिहास–पुरूष, बरगद और भैरव में जोरदार बहस चल रही है– नई सुबह कब होगी?

पर अब दिन दूर नहीं। बीतते समय के साथ नयी सुबह आएगी ही–

''समय का कण–कण
गगन की कालिमा से
बूँद–बूँद चू रहा
तड़ित उजाला बन!![३२]

घ. ओ काव्यात्मन् फणिधर

मुक्तिबोध के इच्छित संसार में बौद्धिक वर्ग एवं सर्वहारा के बीच एक सहजीवी सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। जनक्रांति की आकांक्षा मुक्तिबोध की चेतना पर पूरी तरह हावी थी, इसीलिए उनकी कविता में क्रांति की तैयारी का ढाँचा खड़ा होता हुआ दिखाई पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध के मानस की असंतुष्टि के केन्द्र में तात्कालिक सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था थी, और वे उसी से मुक्ति की तलाश में अपनी कविता को 'तक्षक' बना डालते थे।

मुक्तिबोध की मिथकीय चेतना नितांत निजी किस्म की है। प्रचालित मिथकों के अर्थ भी मुक्तिबोध के हाथ में पड़कर बदल जाते हैं। बदलते इस अर्थ में हैं, मानों उसका सन्दर्भ ही बदल दिया गया हो। अपनी असंतुष्टि से मुक्ति के लिए वे जिस फंतासी की रचना करते हैं, उसके निहितार्थ प्राय: मिथकों के प्रतीकार्थ द्वारा ही स्पष्ट होते हैं। प्रस्तुत कविता के केन्द्र में कवि की जैसी मनोकांक्षा उभरती दिखाई पड़ती है, उसके अनुकूल मिथकों का उपयोग भी भिन्न अर्थों में हुआ है।

मुक्तिबोध प्राय: अपने आभ्यंतरीकृत भावों से परिचालित रहते थे, जिनका उत्कट प्रदर्शन उनकी कविता में, विशेषकर फंतासी–निर्माण में हुआ है। प्रस्तुत कविता में 'फणिधर' (प्रतीकार्थ ग्रहण करते हुए) का कार्य हो, या 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में कलाकार–कारीगर का उत्सवधर्मी क्रांतिकारी वार्तालाप, 'मेरे सहचर मित्र' में व्यक्त इतिहास का नायकत्व हो या बौखलाये प्रश्न–चिह्न के सामने इतिहास रूपी रवि की किरणों का उद्‌भासित उत्तर, सब–के–सब उनकी ही इच्छित दुनिया के प्रतिफल हैं।

व्यवस्था को बदलने की जिस आकांक्षा में उनके लेखन की अक्षय ऊर्जा–शक्ति संचित है, उसी में बदलाव या रूपांतरण की एक मनोवांछित

प्रक्रिया का चिह्न भी मौजूद है। आकांक्षा की तीव्रता साधना की शुचिता और आकांक्षा–सम्पूर्ति के प्रक्रम को भी तय करती है। 'सहचर मित्र' को खोजते एवं 'जीवने के समर्थकों से सीख लेते हुए हड़ताली पोस्टरों में क्रांति का भाष्य प्रस्तुत करनेवाला कवि 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' तक आते–आते बौद्धिक वर्गों को अपना सहचर बनाना चाहता है। 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' एक ऐसे मानस की काव्य–रचना है, जो क्रांतिकारी चेतना के उभार में बौद्धिक वर्ग की भूमिका को बड़ी शिद्दत से स्वीकार करता है। आगे 'अँधेरे में' कविता तक पहुँचकर कवि का मानस सशस्त्र विद्रोह की सार्थकता पर विचार करने लगता है। वैसे तो फणिधर विषैले होते हैं और प्राय: मनुष्य के सहचर नहीं होते परन्तु इस कविता में वह मनुष्य के भावी उत्कर्ष की विचार–मणियों का संरक्षक भी है और काव्यात्मन् भी। कहना न होगा कि 'काव्यात्मकन फणिधर' से मुक्तिबोध की मुराद कवि वर्ग से और आनुषांगिक रूप में बौद्धिक वर्गों से है।

फणिधर की एक एक मिथक–कथा है। वह प्राय: ख़जाने एवं मूल्यवान् कोषों पर रहता है और उसकी रक्षा करता है। उपयुक्त पात्र के मिलते ही वह ख़जाना छोड़कर चला जाता है। काव्यात्मन् फणिधर के पास विचारों का, इतिहास, भूगोल, समाज, वेद, सूत्र, उपनिषदों का ज्ञान है। यह ज्ञान वस्तुत: उस बौद्धिक की सम्पत्ति नहीं है जो काव्यात्मन् फणिधर से प्रतीकित है, बल्कि यह ज्ञान–रत्न उनका अधिकृत है, जिन्हें लोभ–लिप्सु, अराजक, शोषक और अवसरवादी सत्ता से वैचारिक मुठभेड़ करनी है। मुक्तिबोध ज्ञान की सार्थकता उसके फैलाव में स्वीकार करते रहे हैं। ज्ञान जब तक जन–जीवन से जुड़कर उनकी विपदाओं–समस्याओं का संहारक नहीं बनता है, तब तक उसका कोई स्थायी मूल्य नहीं होता। अनगढ़ और जड़ ज्ञान जिसका कोई उपयोग न हो सका हो ज्ञानी को ब्रह्मराक्षस बना डालती है। इसलिए यह ज्ञानरत्न जिनका है, जिस उपयोग में इसकी सार्थकता है, उन तक, उस उपयोग तक इसे पहुँच जाना चाहिए

''ओ संवेदनामय ज्ञान–नाग

कुण्डली मार तुम दबा रखो

फूटती हुई रश्मियाँ

xx xx xx

तुम छिपा चलो जो कुछ तुम हो!

यह काल तुम्हारा नहीं!'[३३]

यह काल इसलिए उनका नहीं है क्योंकि अबं, जो इनके हक़दार है— उपेक्षित, दलित, दमित और शोषित, उन्हें इसकी ज़रूरत आन पड़ी है—

''वे आते होंगे लोग...

अरे, जिनके हाथों में तुम्हें सौंपना ही होंगे

ये मौन उपेक्षित रत्न!'[३४]

यह मुक्तिबोध की दृढ़ता है, जो 'सौपना ही होंगे' का वाचन कर रही है। अब बहुत हो चुका है। अब बहाना नहीं। अब झिझक नहीं। अब लोभ—मोह, डर या भय नहीं। जीवन के प्रखर समर्थकों ने सर उठा लिया है। अब बुद्धिजीवी तुम भी जगो। अपने इतिहास—भूगोल—शास्त्रों के ज्ञान का उपयोग उनकी मुक्ति के लिए करो। केवल इतना ही नहीं, तुम पर युग की चिन्ता का भार है! जाओ, शोध करो उन उपायों और ज्ञान का भी जो—

''पुरों—नगरों में, आँगन के पीछे

कचरे के ढ़ेरों में, जिनकी

मैली सतहों में फँसा—दबा

चुप—चाप धँसाये गये, छिपाये गये रत्न मन के, जन के'[३५]

ये वो ज्ञान हैं, जो असुविधाओं के कारक हैं इसके साथ व्यक्ति समझौतावादी, मौकापरस्त या अपने सम्मान को ताक पर रखकर लोभी—लालची या चाटुकार नहीं हो सकता। ये ज्ञान कचरे के ढ़ेरों पर फेंक दिये जाते हैं, मैली सतहों में दबा दिये जाते हैं। अर्थात् मन के उस हिस्से के सहारे, जहाँ मनुष्य का ईगो प्रबल होता है, जहाँ केवल समझौते की भाषा बोली जाती है, ऐसे असुविधाकारक ज्ञान को दबा दिया जाता है। समय आ गया है ऐसे ज्ञानी मन को

जगाने का। काव्यात्मन् फणिधर पर यह भार भी चस्पाँ हो जाता है। वह ज्ञानियों के मन के उस कोने तक पहुँचने की कोशिश करता है। उनकी जड़ता को तोड़ता है। निष्क्रियता के गड्ढे में चैन पाने वाले सुविधाभोगी फणिधर के इस उद्यम से उन्हें मारने दौड़ते हैं।

ज्ञान के इन मोतियों का उचित पात्र कौन है, कौन हो सकता है। क्या वो पागल स्त्री, जिसने व्यभिचारियों के व्यभिचार का जबरन भार ढोया और अन्ततः एक मरा हुआ बच्चा जना है। यह तो ज़माने पर 'जहरीली छीः थू है' मुक्तिबोध का विचारशील मानस इसे 'आधुनिक सभ्यता—संकट की प्रतीक—रेखा' के रूप में देखता है। इन मोतियों का उचित पात्र क्या वे दार्शनिक हैं, जिन्होंने जीवन भर अव्यावहारिक चिन्तन किया और केवल सेक्स और स्वाद तक स्वयं को सिमटा लिया। और वह भी तब जब समाज में जन—उत्पीड़ित व्यवस्था क़ायम थी। नहीं ये दोनों इसके उचित पात्र नहीं हैं। दोनों ने उत्पन्न होने से पहले ही समस्या के हल को मार दिया है। कवि का मत है कि ज्ञान के मोती इन्हें नहीं, सकर्मक और जाग्रत प्रश्न खड़े करनेवाले सर्वहारा को सौंपा जाए। फणिधर आगे बढ़ता है।

आगे, टूटे, परित्यक्त कुएँ में एक सद्योजात शिशु मिलता है। यह शिशु सम्भवतः परित्यक्त ज्ञान—मणि ही है। कौन है जिसने भयाक्रान्त हो अपना ही अनुभूत सत्य त्याग दिया है। शिशु ज़ोर—ज़ोर रोता है, उसके रूदन में आगामी भविष्य का बयान है। वह भोगे हुए दर्दों के सभी कारणों का ख़ात्मा चाहता है। उसके मन में गुस्सा है। कवि फणिधर को सम्बोधित है—

''तक्षक मेरे
मेरी छाती से चिपक रक्त का पान करो,
अपने विष से मेरे अभ्यन्तर प्राण भरो,
मेरा सब दुःख पियो
सुख पियो, ज्ञान पी लो!
पल भर केवल पल—भर,

मानव रूप धरो![३६]

और मानव का रूप धरकर उस शिशु के गुस्से जीने का प्रयत्न करो, उस गुस्से को साकार करो। उस व्यक्ति ने जिसने इस सद्योजात शिशु को छोड़ा होगा, स्वयं भोला, मजबूर और सज्जन रहा होगा — उनके दर्दों को अपने भीतर उतारो—

''ओ नागात्मन,
इन सब रंगों को पीयो, उन्हें विष में परिणत
करके भीतर
भोगो थर—थर
भोगो जहरीला संवेदन।'[३७]

रात्रि के उस अँधेरे में औदुम्बर के नीचे कुछ श्रमशील व्यक्ति (सर्वहारा) सो रहे हैं। कुछ पुरूष हैं, कुछ स्त्रियाँ हैं। मुक्तिबोध इन स्त्री—पुरूषों के लिए क्रमशः 'श्याम गुलाब' और 'साँवली सिवन्ती' रूपक का प्रयोग करते हैं—

''...और वहाँ कहीं
साँवली सिवन्ती, श्याम गुलाब सो रहे हैं
निद्रा में खुला—खुला आँचल'[३८]

इन रूपकों का प्रयोग मुक्तिबोध की किस मानसिकता का परिचय देते हैं? निश्चय ही, इन रूपकों में एक संवेदनात्मक प्रतिक्रिया प्रच्छन्न है। समाज के इस श्रमशील वर्ग के प्रति जो संवेदनात्मक लगाव रहा है वह अशेष स्नेह के रूप में परिणत होकर 'सिवन्ती' और 'गुलाब' बन गये हैं। यहाँ मुक्तिबोध की संवेदना का एक विशिष्ट पक्ष उजागर होता है। मनुष्य अपने सहचर, समवर्गी और समान पीड़ा भोगनेवाले से रागात्मक रिश्ता स्वतः बना लेता है। उस श्रमशील सर्वहारा को सोते देखना, कवि की भावुकता को क्रियाशील बना देनेवाला है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उन निद्रारत श्रमिकों के दर्शन ने कवि के श्रम का, उनकी थकन का परिहार कर दिया हो। स्पष्ट हो जाता है कि कवि की प्रतिबद्धता और अनवरत लेखन की ऊर्जा का स्त्रोत सदानीरा क्यों है।

जिनके ह्रदय में इन 'गुलाबों' और 'सिवन्तियों' की तस्वीरें होगी, उनके लेखन में अनवरतता तो होगी हीं।

कवि का मानना है कि ये सही पात्र हैं उस ज्ञान–रत्न को धारण करने के लिए। उस सद्योजात शिशु को वहीं पर सोयी एक श्रमिक स्त्री के पास छोड़ दिया जाता है। अब यह बालक–

''श्रम–गरिमा का पी दूध
सत्य नव–जात
विकसता जाएगा।'[३९]

शिशु को छोड़कर काव्यात्मन् अपने गुहा को पहुँचाता है। पर आश्यर्च! हमेशा मणि–प्रकाश से देदीप्यमान रहने वाली गुहा अंधकारमय पड़ी हुयी थी। चेतस कवि सब जानता है कि क्या घटना हुई है– वे लोग जो इन मणियों के अनुकूल पात्र थे, मणि ले गये। अब संसार का परिवर्त्तन आसान होगा। स्वार्थी, मौकापरस्त, लालची और भोगी 'ब्रह्म' उन मणियों के प्रकाश में दिखेंगे–

''दीख सकेगा भीषण मुख...
वह भीषण मुख उस ब्रह्मदेव का
जो रहकर प्रच्छन्न स्वयं,
निज अंक–शापिनी दुहिता–पत्नी सरस्वती
या विवेक–धी
के द्वारा ही'[४०]

कहते हैं कि ब्रह्मा ने काम–पीड़ित हो किसी कमजोर घड़ी में पुत्री सरस्वती को ही अपनी अभिसारिका बना लिया था। ब्रह्मा की यह प्रवृति भोग–लिप्सु वृति है। पूँजीवादी समाज का चरित्र भी बहुत कुछ ऐसा ही होता है। अपने लाभ–लोभ और स्वार्थ के हित में यह व्यवस्था किसी मानवीय रिश्ते की परवाह नहीं करती हैं। कवि चाहता है कि काव्यात्मन् मणि के खो जाने का शोक न करे और व्यक्ति के मन में दबे–दबाये विचारों को उभारने के कार्यों में निरत रहे।

''ओ भूगर्भ—शास्त्री,
भीतर का बाहर का
व्यापक सर्वेक्षण कर डालो।''[४१]

ङ. लकड़ी का रावण

'लकड़ी का रावण' अपने पूरे चरित्र में उस व्यवस्था का प्रतीक है, जिनके गुण एवं जिनकी पहचान का स्त्रोत रावणी वृत्ति है। एक अहंकारी, भोगी, दम्भी, क्रूर और पाखण्डी वृत्ति वाली पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति जनाक्रोश को पैदा करने की आकांक्षा हमेशा मुक्तिबोध के मन में बनी रही। मुक्तिबोध अपनी कविताओं में अब तक सर्वहारा एवं बौद्धिक वर्गों के एकत्व में क्रांति का स्वरूप गढ़ते रहे थे। 'गढ़ना' इसलिए क्योंकि क्रांति के इन रूपों और क्रियाओं के पीछे उनकी अपनी एक चिन्तन दृष्टि थी। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी इस चिन्तन दृष्टि के निर्धारण में मार्क्सवाद की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी परन्तु केवल भूमिका के कारण सारा श्रेय मार्क्सवाद को ही नहीं दिया जा सकता क्योंकि किसी वाद के स्वीकार में व्यक्ति के अवचेतन की भी बड़ी भूमिका होती है। मुक्तिबोध की क्रांति संबंधी अवधारणा के प्रति इस सोच का एक मूलभूत कारण, व्यवस्था में परिवर्तन लानेवाली प्रक्रिया को लेकर व्यक्ति–विशेष की सम्भावित असहमति भी है। इसलिए मुक्तिबोध की फंतासी में व्यक्त 'आंदोलन' या 'क्रांति' को एक घटना नहीं एक चरित्र मानना चाहिए, बेशक उस चरित्र का स्वरूप मुक्तिबोध से मिलता हो। एक चरित्र के रूप में 'आंदोलन' मुक्तिबोध का सुपर–ईगो–सर्वोच्च विवेक–चेतना है, बिल्कुल श्रद्धा की तरह जो कामायनी में प्रसाद जी का सुपर ईगो है। कामायनी में प्रसाद जी का जो आध्यात्मिक अतीतोन्मुख आदर्शवाद है, उसका पूरा प्रक्षेप श्रद्धा में हुआ है। इतिहास का ज्ञान प्रसाद के सुपर–ईगो का भी निर्धारक है, मुक्तिबोध के सुपर–ईगो का भी। मूल अन्तर रचनात्मक दृष्टि का है, जो रचनात्मक दृष्टि इच्छित संसार की स्थापना के प्रति प्रतिबद्ध है। ,

इस कविता में भी एक जनांदोलन सक्रिय होता है और पुरानी पूँजीवादी व्यवस्था का अंत कर देता है। परन्तुं यह कविता पूर्ववर्ती कविता से इस अर्थ

में भिन्न है कि इसमें सर्वहारा और बुर्जुआ के बीच के तनाव को बुर्जुआ की मानसिक स्थिति के बहाने देखने की काशिश की गई है।

इस फंतासी के आलोक में मुक्तिबोध की बुर्जुआ के प्रति एक ख़ास किस्म की सोच प्रकट होती है। मूलत: यह बुर्जुआ वर्ग बेहद अहंकारी और दम्भी होता है, जो अन्दर से बेहद डरपोक और बाहर से बनावटी योद्धा का चोला पहने रहता है। लकड़ी का रावण होना इसी अर्थ को ध्वनित भी करता है। रावण तो तब भी लड़ाका और लड़ते–लड़ते मर जाने वाला था, यह रावण तो लकड़ी का है, निष्प्राण और जड़।

यह बुर्जुआ वर्ग अपने श्रेष्ठताबोध, दम्भ और बहुत हद तक अपने भय को छिपाये रखने के लिए सर्वहारा से स्वयं को बाँटकर रखता है और निरंतर 'अहं ब्रह्मस्मि' की घोषणा करता रहता है। अपने इसी दम्भपूर्ण ऐकांतिक परिवेश में इस बुर्जुआ रावण की घोषणा कुछ इस तरह की होती है–

''दीखता
त्रिकोण इस पर्वत–शिखर से
अनाम, अरूप और अनाकार
असीम एक कुहरा,
भस्मीला अंधकार
फैला है कटे–पिटे पहाड़ी प्रसारों पर,
xx xx xx xx xx xx
लेकिन उस कुहरे से बहुत दूर
उपर उठ
पर्वतीय उर्ध्वमुखी नोक एक
मुक्त और समुत्तुंग!!
उस शैल–शिखर पर
खड़ा हुआ दीखता है एक द्यौ: पिता भव्य
नि:संग

ध्यान–मग्न ब्रह्म...

मैं ही वह विराट् पुरूष हूँ

सर्व–तन्त्र, स्वतंत्र, सत्–चित्।'[४२]

इस 'विराट् पुरूष' का पूरे शून्य (अर्थात् व्यवस्था का नीला आसमान) पर कब्ज़ा है। वह अपने इस ऐकांतिक उन्नत परिवेश से नीचे सामान्य जन के कुहरीले परिवेश को देखता रहता है। इस परिवेश में थोड़ी–सी हलचल होती है और वह आत्मघोषित ब्रह्म घबरा उठता है–

''कम्बल के भीतर है कोई जो

करवट बदलता–सा लग रहा?

आन्दोलन?

नहीं, नहीं, मेरी ही आँखों का भ्रम है

फिर भी उस आर–पार फैल हुए

कुहरे में लहरीला असंयम!!

हाय! हाय! ''[४३]

असल में, यह बुर्जुआ वर्ग व्यवस्था में किसी किस्म का व्यावधान पसन्द नहीं करता है, वह नहीं चाहता कि, उसके अत्याचारों और शोषण के बावजूद कहीं से विरोध का कोई स्वर उभरे। ऐसा होते ही वह बेचैन हो जाता है। उसका भ्रम टूटता है, उस कुहरीले कम्बल के नीचे सचमुच हलचल है। उसे दिखाई पड़ता है–

''घनीभूत कुहरे के लक्ष–मुख

लक्ष–वक्ष, शत–लक्ष–बाहु ये रूप, अरे

लगते हैं घोरतर।''[४४]

व्यवस्था के शीर्ष पर बैठकर, स्वयं को सुरक्षित समझने वाला वह आत्मघोषित ब्रह्म भयभीत हो जाता है, उसे लगता है कि, वह इस परिवर्त्तन को सह नहीं सकेगा। भयाक्रांत बुर्जुआ को अपनी व्यवस्था का अंत करीब लग रहा है। इस

जनांदोलन में उनके पहचाने कई हैं (पहचाने इसलिए क्योंकि ये इन्हीं का शोषण करते रहें हैं)

"डरता हूँ,
उनमें से कोई, हाय
सहसा न चढ़ जाय
उतुंग शिखर की सर्वोच्च स्थिति पर,
xx xx xx xx xx xx
बढ़ न जायें
छा न जायें
मेरी इस अद्वितीय
सत्ता के शिखरों पर स्वर्णाभ
हमला न कर बैठें खतरनाक
कुहरे के जनतन्त्री
वानर ये, नर ये!![४५]

इन से बचने को वे हथियारों का सहारा लेते हैं— आसमानी बिजलियाँ, ब्रह्म—शक्ति, पुच्छल तारे सब का इस्तेमाल करता है क्योंकि व्यवस्था के आकाश में इन्हीं का शासन है, इसलिए स्वभावत: सैन्य ताक़त भी इन्हीं के पास है, सर्वहारा को तो अपनी ही की ताक़त का भरोसा है।

सारे प्रयत्न व्यर्थ! आंदोलन के इस दौर में 'लक्ष—मुख दानव—सा' वह अकेला खड़ा रह जाता है, जनता आ रही है स्थिर, निश्चेष्ट, बाँस के काग़ज से बने हास्यप्रद रावण की तरह बुर्जुआ व्यवस्था का यह ब्रह्म खड़ा रह जाता है। उसे अपनी व्यवस्था का अंत, मानो जारशाही का अंत करीब नज़र आता है, वह अपने अंत का इंतजार कर रहा है—

"मैं मन्त्र—कीलित—सा, भूमि में गड़ा सा,
जड़ खड़ा हूँ
अब गिरा, तब गिरा

इसी पल कि उस पल...'[४६]

मुक्तिबोध का संवेदनात्मक उद्देश्य कविता के आत्मघोषित ब्रह्म अर्थात् बुर्जुआ नायक का अन्त है। जन संगठन के आंदोलन में वे अपने इच्छित संसार का निर्माण देखते हैं। इस कविता में लेकिन कवि का ज्ञानात्मक संवेदन अपना विस्तार लेता हुआ नहीं दिखता है। जनांदोलनों के दौर में बुर्जुआ व्यवस्था क्या सोचती है, इसका स्पष्ट चित्रण फंतासी का अंग नहीं बन सका है।

यह व्यवस्था इतनी आसानी से खत्म नहीं होती है। उसके पास जन–आंदोलनों को तोड़ डालने वाले बुद्धिजीवी होते हैं, वे उनका भरपूर उपयोग करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था उतनी निश्चिन्त नहीं रहती, जितना कि मुक्तिबोध इस रचना में सोचते हैं। यह मुक्तिबोध के अपने मन का भ्रम है। यह व्यवस्था जनता को संगठित होने ही नहीं देती। साम–दाम–दण्ड–भेद नीति के सहारे यह वर्ग सचेत रूप में सर्वहारा को तोड़ते और उनके मन में अनिश्चित भविष्य का भय भरते रहते हैं। उसकी अट्टालिकाऐं उँची–उँची चारदीवारी से जरूर घिरी रहती है, परन्तु वह हमेशा सर्वहारा के संसार में मौजूद रहता है। वह जनता की भीड़ में ऐसे ही नहीं देखता है– जाने–पहचाने मुख को।

इस व्यवस्था का बुर्जुआ 'लकड़ी का रावण' नहीं होता, सचमुच में वह रावण से ज़्यादा खतरनाक, चालाक, कूटनीतिक और छली होता है। फंतासी के पूरे प्रोसेस में होना तो यह चाहिए था कि जनांदोलनों में उसका अपना आदमी होता, जो जनांकाक्षाओं के उलट उसे भ्रमित करने की कोशिश करता। उसकी लड़ाई बौद्धिक स्तर पर भी होती। उसके विविध रूप दिखते। जनता यह पहचान नहीं पाती कि उसके शत्रु का सच्चा चेहरा क्या है।

अपने अन्य फंतासियों के मुक़ाबले, इस फंतासी में मुक्तिबोध की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया सरलीकरण का सहारा लेती हुई प्रकट होती है। मुक्तिबोध उनके के द्वन्द्वों को उभार नहीं पाते दे जो जनांदोलनों के दौर में

प्रकट होते हैं। यथार्थ को पूरी तरह जानने–समझने के बावजूद यथार्थ के प्रति उनकी प्रतिक्रिया इस फंतासी में अपुष्ट और अधूरी है।

च. ब्रह्मराक्षस

'ब्रह्मराक्षस' के विश्लेषण से पूर्व हमें दो–तीन बातें स्पष्ट कर देनी चाहिए। पहली बात तो यह कि 'ब्रह्मराक्षस' एक रूपकात्मक फंतासी है, जिसमें ब्रह्मराक्षस के मिथक का नये सन्दर्भ में उपयोग किया गया है। दूसरी बात यह कि इस कविता का रचनाकाल प्राय: वही है जो 'अँधेरे में', 'लकड़ी का रावण' आदि का है। रचनावली में नेमिचन्द्र जैन ने इसका संभावित रचनाकाल १९५६ से १९६२ तक स्वीकार किया है, यद्यपि इसका प्रथम प्रकाशन 'कवि' ५७ के अप्रैल अंक में हो चुका था। स्पष्ट है कि कविता में, उसके बाद भी परिवर्त्तन होते रहे थे। और तीसरी बात यह कि 'ब्रह्मराक्षस' एक मिथकीय कल्पना हैं। शास्त्रविहित मान्यताओं का उल्लेख करते हुए श्री नन्दकिशोर नवल लिखते हैं कि *''पापकर्म करनेवाले ब्राह्मण को मरने के बाद प्रेत–योनि प्राप्त होती है और वही ब्रह्मराक्षस होता है। मुक्तिबोध ने कविता में इसी मान्यता का इस्तेमाल किया है और उस से एक फैण्टेसी निर्मित की है।'*[४७] वे आगे लिखते हैं कि *''ब्रह्मराक्षस एक प्रगतिशील मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का प्रेत हैं।'*[४८] अशोक चक्रधर की मान्यता भी प्राय: यही है। चंचल चौहान का निष्कर्ष है कि– *''ब्रह्मराक्षस कलाकार, विचारक, कवि या बुद्धिजीवी का वह पक्ष है जो नि:संग निष्क्रिय रहकर सिर्फ समाज के रोगों की छानबीन तो करता रहा, आक्रोश दिखाता रहा, किंतु क्रिया (एक्शन) में 'पश्चात्पद' रहा है।'*[४९]

कुछ आलोचकों के विचार, इस मंतव्य के ठीक उलट हैं। मनोविश्लेषण करते हुए डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा, डॉ. सुरेन्द्र प्रताप आदि विश्लेषकों ने 'ब्रह्मराक्षस' को कवि की वैयक्तिकता का प्रतीक घोषित कर दिया है।

''अपनी एक अधूरी डायरी में स्वयं मुक्तिबोध ने भी लिखा है कि *''मैं ब्रह्मराक्षस हूँ। अनादि काल से चला आया वह ब्रह्मराक्षस जिसने हमेशा सही करने की कोशिश की और ग़लती करता चला गया।'*[५०]

इस कविता में मुक्तिबोध ने यथार्थ और कल्पना के बीच झीने परदे का निर्माण करते हुए 'ब्रह्मराक्षस' की बेचैनी, उग्र व्यवहार और असंतोष को खूबसूरती से चित्रित किया है। उन्होंने इस कारण को भी स्पष्ट किया है कि 'ब्रह्मराक्षस' के उक्त व्यवहार का कारण क्या है। अन्ततः ब्रह्मराक्षस की मुक्ति के लिए उनका विश्वास–भरा प्रण प्रस्तुत होता है–

''मैं ब्रह्मराक्षस का सजल–उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्त्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।''[५१]

कविता का यह अन्तिम बंद कम–से–कम इस बात की सूचना नहीं देता कि जिस से कविता में ब्रह्मराक्षस की ज़गह मुक्तिबोध को बैठाया जा सके। मनोविज्ञान कला में अवचेतन कि जिस स्तर को स्वीकार करता है और जैसा कि कला को दमन की दृश्य प्रतिक्रिया मानता है, उस सन्दर्भ में 'ब्रह्मराक्षस' यदि मुक्तिबोध की 'अन्वीक्षा' (कुबेरनाथ राय इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। अन्वीक्षा अक्सर अकाल मृत्यु या उपेक्षा मृत्यु भोगती है, जो दमित वासनाओं की तरह होती है और जाति–मन के अवचेतन में बंद रहती है।) होती तो उनके मन में ब्रह्मराक्षस का सजल–उर शिष्य होने की आकांक्षा न पैदा होती।

तथ्य का दूसरा रूप अर्थात् उनकी अधूरी डायरी, लेकिन इस बात की ओर इशारा करती है कि मुक्तिबोध के मन में अपने लिए ब्रह्मराक्षस जैसी कोई छवि जरूर थी, जिसके कारण उन्होंने स्वयं को अनादि काल से चली का रही ब्रह्मराक्षस की किसी परम्परा से जोड़ा है। लियोनार्दो दा विन्सी (Leonardo da Vinci) ने अपनी नोटबुक में, बचपन से जुड़ी एक सूचना का उल्लेख किया है। *''...अपने जीवन की प्रारम्भिक स्मृतियों में से एक को याद करता हूँ। जब*

मैं बच्चा (Cradle) था एक गिद्ध मेरी ओर नीचे उतरता, अपनी पूँछ से मेरे मुँह को खोलता और मेरे होंठ पर अपनी पूँछ से कई बार ठोकरें मारता'[५२]

फ्रायड इस सूचना के दो अर्थ निकालते हैं, पहला तो यह कि इस सूचना का संबंध काम–वृत्ति से है और दूसरा यह कि इसका संबंध मिस्र के एक मिथक से है। आवश्यकतानुरूप हम यहाँ केवल दूसरे मंतव्य का उल्लेख कर रहे हैं।

'प्राचीन मिस्र के चित्र में ''माँ' एक गिद्ध के रूप में प्रस्तुत हुई है। मिस्र वासी एक मातृदेवी की पूजा भी करते थे जो एक ऐसे रूप में प्रस्तुत की गई थी, जिनका सिर गिद्ध का था या कम–से–कम कई सिरों में एक सिर गिद्ध का था । इस देवी को 'मट' (MUT) के रूप में उच्चरित किया जाता था, जो सम्भवतः Mutter ('Mother') का समरूप हो सकता है।'[५३] कई स्त्रोतों (ग्रीक–रोमन शास्त्रीय लेखन) से प्राप्त जानकारी के आधार पर फ्रायड कहते हैं कि *'गिद्ध केवल मातृत्व के प्रतीक रूप में माननीय था क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता था कि केवल मादा गिद्ध का ही अस्तित्व होता है।'*[५४] इस मिथक को सुनकर बालक लियोनार्दो के मन में इस फंतासी का निर्माण हुआ। मानो वह भी गिद्ध के एक बच्चे जैसा है, जिसकी केवल माँ है, पिता नहीं। यह ज्ञातव्य है कि जब लियोनार्दो पाँच वर्ष का हुआ तब पहली बार अपने पिता के घर लाया गया था। अपने जीवन का प्रारम्भिक वर्ष उसने अपनी ग़रीब माँ के साथ बिताया था। इस दौरान उसे पिता की अनुपस्थिति महसूस हुई होगी।

मिथक का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर बहुत दूर तक पड़ता है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मुक्तिबोध भी लियोनार्दो की तरह बालपन से ही ब्रह्मराक्षस नामक मिथक से प्रभावित रहे होंगे लेकिन सम्भवतः वे अपने जीवन में ब्रह्मराक्षस की छवि तब महसूस की होगी, जब उन्हें व्यर्थता का एहसास हुआ होगा।

यह प्रमाणित सत्य है कि मुक्तिबोध में अद्‌भूत संघर्ष–शक्ति थी। अभावों और कष्टों में रहकर भी उनके भीतर का साहित्यकार उत्कट जिजीविषा और अपार आशा का साहित्य रचता रहा। मन में जितनी जीवंतता और जिजीविषा होती है, संघर्ष का वैसा ही अदम्य उत्साह होता है। मुक्तिबोध के साहित्य में संघर्ष के इस अक्षय स्त्रोत का कारण यही जीवन प्रेम है।

अपने जीवनकाल में मुक्तिबोध ने एक रचनाकार के बतौर वह सम्मान नहीं पाया जो उन्हें मृत्योपरांत मिला। न समझे जाने का दर्द एक बड़ा बोझ होता है और अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह पीड़ा व्यर्थता के रूप में मुक्तिबोध के मन पर छा गयी होगी। जिस तरह पिता के अभाव ने लियोनार्दो के मन में फंतासी पैदा कर दी थी, उसी तरह मुक्तिबोध भी बरबस उस मिथक की ओर खिंचते चले गये– पर क्या यह केवल डायरी के वक्तव्य का सच है, 'ब्रह्मराक्षस' कविता का नहीं? कविता का सच तो यह भी है कि मुक्तिबोध ब्रह्मराक्षस का सजल–उर शिष्य होना चाहता है।

'ब्रह्मराक्षस' जिस परिवेश में रह रहा है, उस से भय और जड़ता का वातावरण सृजित हो रहा है। ऐसे वातावरण में बेचैनी और असंतोष से भरी आत्मा, परेशान ओर अत्यन्त चंचल ब्रह्मराक्षस की आवाजें गुंजती रहती है। कविता के परिवेश का अशोक चक्रधर ने सटीक प्रतीकार्थ प्रस्तुत किया है। ये प्रतीकार्थ विशेष मनःस्थिति की ओर इशारा करते हैं। *''...बावड़ी से आशय उसकी निःसंगता के उस घेरे से है, जिस से वह कभी निकल नहीं पता। x x बावड़ी का इलाका (उसका प्रभावी क्षेत्र) भी उसके उलझावों का शिकार है। 'डालें खूब उलझी' हुई हैं। कुछ लोग 'ब्रह्मराक्षस' रूपी बौद्धिक तर्कों–मतों को सुनकर कन्फ्यूज हो गये हैं, 'औदुम्बर' की तरह मौन खड़े हैं, कुछ 'घुग्घू' (समान–विरोधी अवसरवादी लोग) भी उसके पास आ बसे हैं, वे शायद उसका अपने हित में उपयोग करना चाहते हैं। 'श्वेत पुष्प–तारों वाली टगर' और*

'महकते लाल फलों के झौंर' के रूप में कुछ सभ्रांत, निरीह ज्ञान–पिपासु भी उसके प्रभावी जगत में आ गए हैं।'[५५]

'विगत् शत पुण्य' से आभासित उस परिवेश में कर्त्ता कवि ब्रह्मराक्षस का बेचैन क्रियाकलाप देखता है–

''...तन की मलिनता दूर करने के लिए, प्रतिपल
पाप–छाया दूर करने के लिए, दिन–रात
स्वच्छ करने–
ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह
हाथ के पंगे, बराबर
बाँह–छाती–मुँह छपाछप
खूब करते साफ,'[५६]

मुक्तिबोध के इतिहास–बोध का ध्यान, मनोविश्लेषण की स्पृहणीय जरूरत है। इतिहास बोध ही क्योंकि उनके सुपर–ईगो का निर्माता है। जिस बावड़ी के किनारे खड़ा होकर वे ब्रह्मराक्षस का क्रियाकलाप देख रहे हैं, वह केवल निःसंगता का परिवेश ही प्रतीकित नहीं कर रही बल्कि वह बौद्धिक वर्गों के उस इतिहास के किनारे खड़े हैं, जिसकी अनादि काल से चली आ रही एक परम्परा है, और जिसका प्रतीक वह बावड़ी है। मुक्तिबोध का यह प्रण कि 'मैं ब्रह्मराक्षस का सजल–उर शिष्य होना चाहता हूँ', उस परम्परा से लम्बे संवाद का नतीजा है, जिसमें एक ब्रह्मराक्षसीय छवि विद्यमान रहीं हैं।

'ब्रह्मराक्षस' जिस पाप के कारण ब्रह्मराक्षस बना है, उस पाप से मुक्ति के लिए वह लगातार अपनी देह घिस रहा है, परन्तु सब व्यर्थ, वह पाप की छाया से मुक्ति नहीं पाता। परिणामतः आत्मा में क्रोध से व्याप्त संवेदना और घनीभूत होती जा रही है।

ज्ञान–गर्वित ब्रह्मराक्षस को व्यर्थता का बोध इस बात से भी है, कि उसे उचित तरीके से समझा नहीं गया। इसीलिए जब सूर्य–रश्मि तिरछी होकर

बावड़ी में प्रवेश करती है, ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने झुककर नमस्ते किया है। ब्रह्मराक्षस ऐसा जब भी सोचता है अति प्रफुल्लित हो दुगुने भयानक ओज से इतिहास, वेद, पुराण, छंद्स, विज्ञान, दर्शन सबकी नवीन व्याख्या करने लगता है। इस बात की चिन्ता किए बग़ैर कि उसके 'हर शब्द निज प्रति—शब्द' को ही काट रहे हैं।

ब्रह्मराक्षस की इस स्थिति का कारण क्या है? इतिहास इसका कारण बतलाता है। अनादि काल से चली आ रही इस परम्परा का कारण इतिहास को पता हैं मुक्तिबोध इसका अनुसंधान करते हैं—

ज्ञान—गर्वित ब्रह्मराक्षस ने जीवन भर अनुसंधान किये, परन्तु स्वयं के लिए कोई राह नहीं तलाश सका। वह जीवन भर द्वन्द्व में ही पड़ा रहा। सही—गलत को तय करने की कोई दृष्टि उसके पास नहीं थी। जीवन भर आख्यानों से वह केवल 'दृष्टियों' का संग्रहण ही करता रहा। निज विवेक बुद्धि का उसने कभी सहारा नहीं लिया।

''खूब उँचा एक ज़ीना साँवला
उसकी अँधेरी सीढ़ियाँ...
वे एक आभ्यन्तर लोक की।
एक चढ़ना औ' उतरना,
पुनः चढ़ना औ' लुढ़कना,
मोच पैरों में
व—छाती पर अनेकों घाव।
बुरे—अच्छे—बीच के संघर्ष
से भी उग्रतर
अच्छे व उस से अच्छे बीच का संगर'[५७]

द्वन्द्वमय इस संघर्ष का कारण पूर्णता की तलाश हैं। पूर्णता की तलाश की इस सकर्मकता में दर्द तो है, पर क्रियाशीलता का सौन्दर्य भी है। इसीलिए लगभग असंभवप्राय पूर्णता के खोजी ब्रह्मराक्षस के प्रयत्न को कवि अनुकूल संवेदना से

देखता है। जीवन भर सम्पूर्णता की खोज में भटकनेवाला शोधक आखिरकार यूँ ही मर गया— बेसबब। सूर्य के निकलने से लेकर सूर्य के ढ़लने और चाँद के निकलने तक वह द्वन्द्वों में घिरा रहता—

''रवि निकलता
लाल चिन्ता की रूधिर—सरिता
प्रवाहित कर दीवारों पर,
उदित होता चन्द्र
व्रण पर बाँध देता
श्वेत—धौली पट्टियाँ...।[५८]

इस द्वन्द से मुक्त होने और जीवन को संगति प्रदान करने और गुरू की खोज में भटकता रहा—

''वे भाव—संगत, तर्क—संगत
कार्य सामंजस्य—योजित
समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ
हम छोड़ दे उसके लिए।
उस भाव—तर्क व कार्य—सामंजस्य—योजन...
शोध में
सब पण्डितों, सब चिन्तकों के पास
वह गुरू प्राप्त करने के लिए
भटका!!''[५९]

इस भटकाव को अन्ततः कोई प्राप्ति न मिली। वाणिक—वृत्ति से युक्त व्यवस्था में शिक्षा पण्यवस्तु बन चुकी थी धन की महिमा में सब कुछ ढँक गया था। सत्य के नाम पर केवल सत्य की छाया बची हुई थी।

शोधक को उपयुक्त गुरू न मिला। उसके प्राणों से द्वन्द्वों का समाहार न हो सका। उसका आत्मचेतस मन विश्वचेतस बन जाने के लिए व्याकुल रहा और इसी व्याकुलता में वह विषादग्रस्त होता चला गया। शोधक के ब्रह्मराक्षस

बन जाने का कारण यही है। अगर उसने स्वयं की महत्ता को जाना होता और उसका उपयोग सामान्य जन के लिए किया होता, तो सम्भवतः वह दुनिया में बदलाव ला सकता, पर ऐसा हुआ नहीं—

''पिस गया वह भीतरी
औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच'',

बावड़ी के भीतर से स्वयं वह चिल्लाता रहा—

''वह कोठरी में किस तरह गणित करता रहा
औ' मर गया...'[६०]

ऐसा क्यों हुआ! उस शोधक की सम्भावना का दीया कैसे बुझ गया! वह ब्रह्मराक्षस क्यों बना! क्योंकि उसने ज्ञान को व्यवहार में नहीं उतारा। कवि आत्मचेत्स है। वह द्वन्द्वों में उलझा हुआ नहीं है। कनहेर की सलाह से दूर जा हटा कवि अब ब्रह्मराक्षस के प्रति संवेदनशील हो उठता है। अब वह ब्रह्मराक्षस से छिपा नहीं रहेगा। उसके अधूरे कार्यों को पूरा कर बेचैनी और असंतोष की पीड़ा से उसे मुक्त करेगा। वह ब्रह्मराक्षस का शिष्य बनना चाहता है—

''मैं ब्रह्मराक्षस का शिष्य होना चाहता हूँ
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्त्रोत
संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।'[६१]

इस अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचते—पहुँचते फंतासी का काल्पनिक वातावरण यथार्थ के भाव—बोध से जुड़ गया है।

छ. दिमाग़ी गुहान्धकार का ओराँगउटाँग

''दीखती है सहसा
अपनी ही गुच्छेदार मूँछ
जो कि बनती है कविता
अपने ही बड़े–बड़े दाँत
जो कि बनते हैं तर्क
xx xx xx xx
जाता हूँ चौंक मैं निज से
अपनी ही बालदार सज से
कपाल की धज से।''[६२]

त्राटक एक ऐसी ध्यान प्रक्रिया है, जिसमें उतरते ही मनुष्य को अपने ही भीतर के कई रूप दिखलाई पड़ते हैं। मनुष्य के बारे में मनोविज्ञान की एक धारणा है कि उसका मस्तिष्क कई कोष्ठकों में बँटा होता है और इसलिए मनुष्य की चिन्तन प्रक्रिया एक स्तर पर घटित नहीं होती, उसमें कई स्तर होते हैं और हमारी प्रवृत्तियों पर इस स्तरीकरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के बारे में मनोविज्ञान की इसी धारणा को त्राटक प्रायोगिक रूप देता है। हम प्राय: यह सुनते–कहते रहते हैं कि मनुष्य के कई रूप होते हैं। अपने द्वारा कहे हुए इन शब्दों का रिश्ता जितना अन्य से होता है, उतना स्वयं से भी। इस किस्म के वाक्य हमारे अवचेतन का वस्तुत: प्रत्यक्षीकरण होते हैं। जब हम मनुष्य के कई रूपों की बात करते हैं तो तात्पर्य प्राय: मनुष्य के प्रकट रूप से परे अप्रकट रूप को स्पष्ट करने का होता है। सचेतन रूप से हम अपने उन चरित्रों को छिपाते हैं, जो सभ्यता के विपरीत या समयानुकूल नहीं होते। हमारी आचरण–नीति के विपरीत जानेवाले विचार जो प्राय: ईड (id) से परिचालित होते हैं, ईगो (Ego) के दबाव में अप्रकट रहते हैं, वक्त –बेवक्त मौक़ा पाकर

अपनी अभिव्यक्ति की राह तलाश लेते हैं। त्राटक में मनुष्य अपने ही चेहरे को विविध रूपों में देखता है। यह वस्तुतः हमारी उन सोचों की रूपात्मक अभिव्यक्ति है, जिसे हम प्रायः किसी कारण से दमित कर देते हैं।

दिमाग़ के गुहान्धकार में बैठे हुए औराँगउटाँग से यही तात्पर्य ग्रहण किया जाना चाहिए कि वह मनुष्य की किसी आदिम वृत्ति का, ऐसी आदिम वृत्ति का जिसे, सभ्यता के बढ़ते क़दम के साथ अधम, पिछड़ा हुआ और अमानवीय मान लिया गया है, एक प्रतीक है।

यह फंतासी भिन्न मिजाज़ की है। मुक्तिबोध अपनी फंतासी में वस्तुतः एक यथार्थवादी दृष्टि के साथ आगे बढ़ते हैं। यह फंतासी उनकी रचनाओं में सर्वथा भिन्न विचार पैटर्न की फंतासी के रूप में नामित की जानी चाहिए। दुनिया के क़ायदे—कानून बघनखा पहनने की मनाही करते हैं, परन्तु जब वृत्ति हिंसक हो तो बघनखा न पहने जाने का मतलब इस हिंसक वृत्ति को दमित करना ही होगा। ये दमित वृत्तियाँ किसी—न—किसी रूप में तो प्रकट होती ही, वह प्रकट होती है, शब्दों में, वह प्रकट होती है, कविता में, वह प्रकट होती है, तर्कों और कलाओं के विविध रूपों में। इस काव्यनायक की गुच्छेदार मुँछों और दाँतों का कविता और तर्क में बदलना वस्तुतः उसकी हिंसा—वृत्ति को ही प्रकट करते हैं। मस्तिष्क के कई कोष्ठकों में बंद ओराँगउटाँग उन प्रवृत्तियों का सूचक है, जिसे बलात् दबा दिया गया है।

एक सभ्य वातावरण में बातचीत करते हुए व्यक्ति इस बात का ध्यान रखता है कि अनिच्छित कुछ ऐसा घटित न हो जाय जो उस सभ्य वातावरण के खिलाफ़ जाता हो। इसलिए जब काव्यनायक 'करीने से सजे हुए संस्कृत... प्रभामय/अध्ययन—गृह में' बहस करते हुए, विवादों में हिस्सा लेते हुए ध्यान से सुनता है 'अपने ही शब्दों का नाद, प्रवाह और' पाता है 'स्वयं के स्वर में/ओराँगउटाँग की बौखलाती हुंकृति ध्वनियाँ' तो भयभीत और पसीना—पसीना होकर वह सोचता है कि कहीं कोई जान ने ले 'कि नग्न और विद्रूप/असत्य शक्ति का प्रतिरूप/प्राकृत ओराँगउटाँग' यह उसी के भीतर छिपा बैठा है।

क्योंकि काव्यनायक का चेतन, अर्थात् उसकी आलोचना बुद्धि स्वयं की ही जाँच करता रहता है, ज़्यादा सजग है, इसलिए वह अपनी इन आदिम वृत्ति को पहचान लेता है और पुनः उन ख़यालों के प्रतीक ओराँगउटाँग को बलात् दबाकर उस सभ्य वातावरण में प्रविष्ठ होता है—

''ताला लगा देता हूँ मैं पेटी का
बन्द है सन्दूक!!
अब इस प्रकोष्ठ के बाहर आ
अनेक कमरों को पार करता हुआ
संस्कृत प्रभामय अध्ययन—गृह में
अदृश्य रूप से प्रवेश कर
चली हुई बहस में भाग ले रहा हूँ!![६३]

बहस में भाग लेता हुआ इस बार वह सबकी संवादों का परीक्षण करता है और पाता है कि सत्य और तथ्य के बहाने सब अपने—अपने अहं को तुष्ट कर रहे है। उन सत्य के बहाने सब अपनी—अपनी पूँछ, नाखून और सघन बाल छिपा रहे हैं ये सब इन हथियारों से किसी अभागे की हत्या कर उनका रक्त पान करेंगे।

अशोक चक्रधर ओराँगउटाँग के उभरने और दबा देने में एक पैटी बुर्जुआ चरित्र को लक्षित करते हुए लिखते हैं— *''पैटी—बुर्जुआ अपनी इसी स्थिति के कारण एक छद्म और असत्य चेतना से ग्रस्त रहता है। प्रश्न उठता है कि कवितागत कर्त्ता इससे परिचित होते हुए, इस से मुक्ति चाहते हुए भी इसे समाप्त नहीं कर पाता? इसका उत्तर यह है कि वर्ग—चेतस पैटी—बुर्जुआ तब तक इससे मुक्ति नहीं पा सकता, जब तक वह पूर्णरूपेण सर्वहारा की ओर अपना वर्गापसारण न कर ले। दूसरे, इस चेतना से परिचित हो जाने पर भी उसका समाज तो नहीं बदल पाता x x x हाँ वर्ग—चेतस व्यक्ति, अपनी असत्य चेतना से परिचित हो जाने पर एक द्वन्द्व की स्थिति में रहता है— न*

वर्गापसारण कर पाता है, न अपनी छद्म चेतना को ही मार पाता है। फेंटेसी के कर्त्ता की भी यही स्थिति है, वह वर्ग–चेतस होते हुए भी, अपने वर्ग की सीमाएं नहीं तोड़ पाता।'[४४] ओराँगउटाँग के प्रकट होने और दबा देने का लक्ष्यार्थ पैटी–बुर्जुआ चरित्र के रूप में ग्रहण करना अनुचित नहीं है। मुक्तिबोध के काव्य का स्वर जिन अवधारणाओं के परित: भ्रमण करता रहता है, यह अर्थ उसके अनुकूल ही है। परन्तु फंतासी के केन्द्र में इसी लक्ष्यार्थ को केन्द्रीभूत नहीं किया जाना चाहिए, रचना में इसका कोई संकेत नहीं है। ऐसा करने से रचना को एक सीमित अर्थ में ग्रहण करने की मजबूरी पैदा हो जाएगी। वस्तुत: यह उन तमाम प्रवृत्तियों का प्रतीक है, जो किन्हीं कारणों से यथार्थ–सिद्धांत के सहारे क्रियाशील मस्तिष्क–खण्डों द्वारा दमित कर दी जाती हैं।

ज. अँधेरे में

'अँधेरे में' कदाचित् मुक्तिबोध की अंतिम रचना है और हम इसे उनके चिन्तन के अन्तिम निष्कर्ष के तौर पर देखते हैं। समय, समाज और व्यवस्था पर निरंतर चिन्तन करते हुए मुक्तिबोध 'अंधेरे में' के रूप में जिन निष्कर्षों को सामने रखते हैं, उसमें तात्कालिक समाज की पीठिका में भविष्य आकार लेता हुआ दिखाई पड़ता है। इसलिए 'अँधेरे में' को न तो स्वप्न–कथा कहा जाना चाहिए और न ही व्यक्तित्वांतरण की कविता। स्वप्न–कथा का अभिधार्थ अनावश्यक रूप से कविता की यथार्थ–जन्य पृष्ठ-भूमि को ओझल कर देता है और व्यक्तित्वांतरण की कविता यह इसलिए नही है क्योंकि जिस किस्म का व्यक्तित्वांतरण 'अँधेरे में' में होता है, वैसा अन्य कविताओं में भी हुआ है और ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तित्वांतरण उनकी फंतासी का एक ऐसा उपकरण है, जिसके सहारे वे अपने संवेदात्मक उद्देश्यों को सिद्ध करते हैं। वास्तव में यह कविता अपने समय के सच पर भविष्य का चित्रांकन है। डॉ. प्रभाकर माचवे ने 'अँधेरे में' कविता के विराट् स्वरूप का बेहद सटीक रूपक प्रस्तुत किया है– *''यह (अँधेरे में) Guernica in Verse है; इसके बहुत से अंश पिकासो के विश्व–प्रसिद्ध चित्र जैसा ही प्रभाव डालते हैं।'*[६५]

'अँधेरे में' एक मन: स्थिति है। मन की यह स्थिति जिस अँधेरे से निर्मित हुई है, उसका कारण वे विसंगतियाँ हैं,जो तात्कालिक व्यवस्था ने फैला रखी थी। यह अद्भूत है जब हमारी चेतना विसंगतियों के प्रति किसी किस्म की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया देना बन्द कर देती है। यह जानते–समझते कि व्यवस्था का रूप जनवादी नहीं है, आदमी की चुप्पी इस बात की ओर इशारा करती है कि समाज का पूरा परिवेश इन विसंगतियों को जरूरी व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर रहा है। व्यवस्था का यह मौन स्वीकार मूलत: सम्पूर्ण समाज की चेतना के अनुकूलित हो जाने की सूचना है और इसीलिए यह मनुष्य के

यथार्थ–सिद्धांत का अनुकूलन भी है, जिसके केन्द्र में सामाजिक विसंगतियाँ नियम–क़ायदे बनकर जड़ीभूत हो गयी हैं। दूसरे अध्याय में इसका ज़िक्र हुआ है कि मुक्तिबोध के आनंद–सिद्धांत के केन्द्र में इन विसंगतियों के प्रति विद्रोह की भावना है। 'अँधेरे में' मूलत: जिस वातावरण का सृजन करता है, मनुष्य की चेतना उस वातावरण का भोक्ता है, और इसी वातावरण के दमघोंटूपन से मुक्त, इच्छित भावी समाज के निर्माण की बेचैनी फंतासी के संवेदनात्मक उद्देश्य में समाया हुआ है, इसलिए कविता को वर्त्तमान के प्रति भविष्य का विद्रोह समझने में गुरेज़ नहीं होना चाहिए।

मुक्तिबोध एक क्रांति–प्रेमी कवि हैं क्योंकि उनके लेखन में व्यवस्था परिवर्त्तन का स्पष्ट स्वीकार है। वे जिस व्यवस्था के पक्ष में खड़े दिखाई पड़ते हैं वह सर्वहारा के संघर्षों से निर्मित साम्यवादी व्यवस्था है। मुक्तिबोध स्वयं भी मार्क्सवादी थे, इसलिए उनकी सर्वोच्च विवेक–चेतना के निर्माण में मार्क्सवाद का योगदान नि:संदिग्ध है। 'अँधेरे में' कविता मार्क्सवाद से प्रभावित सर्वोच्च विवेक–चेतना का निदर्शन है। एक क्रांतिकारी अपने इच्छित संसार से बेहद लगाव महसूस करता है। वह प्रेम के प्रबल भावावेग से चालित रहता है, व्यवस्था के वर्त्तमान रूप के प्रति अश्रद्धा का भाव, मस्तिष्क के जिस हिस्से से ऊर्जा ग्रहण करता है, वह आनंद–सिद्धांत के सहारे निर्देशित होता है। मुक्तिबोध के सन्दर्भ में आनंद–सिद्धांत के प्रबल आग्रह का उल्लेख यहाँ पुनरावृत्ति होगी, परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अँधेरे में कविता के भीतर काव्यनायक जहाँ कहीं भी व्यवस्था विरोधी चेतना से लैस होता है, वहाँ उसकी ऊर्जा का केन्द्र कवि का 'ईड' ही होता है, जो वस्तुत: 'आनंद–सिद्धांत' के अधीन कार्य करता है।

डॉ. नामवर सिंह का मानना है कि इस कविता में *''कवि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज व्यक्ति की खोज नहीं बल्कि अभिव्यक्ति की खोज है।''*[६६] यह ध्यातव्य है कि यह धारणा 'कविता के नए प्रतिमान' पुस्तक के साथ ही परिशिष्ट के रूप में लिखे गये निबंध 'अँधेरे में : परम अभिव्यक्ति की

खोज' में ही स्पष्ट हो गयी थी। एक ऐसी विसंगतिपूर्ण व्यवस्था में जहाँ उसके खिलाफ़ आवाज़ उठाना मौत को घर बुलाना है, उसमें अभिव्यक्ति की खोज करना या अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाना एक ऐसी क्रांतिकारी मनोदशा में ही सम्भव है, जो इस किस्म के 'मार्शल लॉ' से घृणा करता है और इसे समाप्त कर डालने के लिए प्रतिबद्ध है। इस व्यवस्था के प्रति आवाज़ उठाना तो और भी मुश्किल होगा, यदि आवाज़ उठाने का अंजाम आँखों के सामने हो—

''वह कलाकार था
गलियों के अँधेरे का, हृदय में भार था
पर, कार्य क्षमता से वंचित व्यक्ति,
चलाता था अपना असंग अस्तित्व।
सुकुमार मानवीय हृदयों के अपने,
शुचितर विश्व के मात्र थे सपने।
xx xx xx xx xx
किन्तु, अचानक झोंक में आकर क्या कर गुज़रा कि
सन्देहास्पद समझा गया और
मारा गया वह बधिकों के हाथों।''[६७]

यह कलाकार तो कविता के भीतर है, कविता के बाहर मर्मान्तक पीड़ा झेलनेवाला वह कलाकार और कोई नहीं स्वयं मुक्तिबोध हैं। पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' में जब उन्होंने 'अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाने का प्रयत्न किया तो फासिस्ट ताक़तों ने न केवल विरोध किया बल्कि उन्हें अपमान भी झेलना पड़ा। राजनीतिक रूप से भी उन्हें कोई सहायता न मिली। फासिस्ट ताक़तों के व्यवहार ने मुक्तिबोध को भयभीत और बेचैन कर दिया था। वे सोते से चिल्लाकर जग जाते थे। 'लक्षित मुक्तिबोध' में शरद कोठरी ने इस प्रतिबंध की मुक्तिबोध पर क्या प्रतिक्रिया हुई थी, इसका उल्लेख किया है। *''अपनी पुस्तक 'भारत : इतिहास और संस्कृति' के सरकार द्वारा कानूनन जब्त किए जाने से मुक्तिबोध को बहुत गहरा सदमा पहुँचा था। वह कई दिन तक*

खोए—खोए से रहे। दरअसल उनका सदमा राजनीति की भयंकर प्रतिक्रिया का परिणाम था। अपनी पुस्तक के जब्तीकरण को वह लेखक की विचार—स्वतंत्रता और लेखन—स्वतंत्रता के लिए खौफ़नाक मानते थे, क्योंकि सरकार ने वह निर्णय साम्प्रदायिक दबाव में आकर लिया था। भोपाल में नेहरूजी के देहांत का समाचार सुनकर अचेतन—सी अवस्था में ही मुक्तिबोध शोकाकुल होकर कह उठे थे : पार्टनर, बस अब फासिज्म आ जाएगा।'[६८]

पुस्तक के प्रतिबंध का मामला अभिव्यक्ति के दमन का ही मामला था। विचारवान और चिन्तक मुक्तिबोध के लिए यह केवल व्यक्तिगत मामला नहीं था। मुक्तिबोध के लिए इसका कितना बड़ा सन्दर्भ था इसका उल्लेख हरिशंकर परसाई राष्ट्रवाणी (जरवरी—फरवरी, १९६५) में 'वह तेजवती पीड़ा' नाम से प्रकाशित संस्मरण में करते हैं। मुक्तिबोध कहते— *''पार्टनर, यह मेरी या आपकी पुस्तक का मामला नहीं है। मामला यह है कि देश में फासिस्ट ताक़तें बहुत बढ़ गई हैं। वे आपकी क़लम छीन लेंगी, आपके गले को दबाकर आप को बोलने नहीं देंगी, वे स्वतन्त्र-चिन्तन को समाप्त कर देंगी। वे बढ़ी तो किसी दिन आपकी सारी प्रजातांत्रिक संस्थाओं को नष्ट कर देंगी और देश में फासिस्ट तंत्र को स्थापित कर देंगी।'' x x x x x घोर मानसिक त्रास में उनके वे दिन गुजर रहें थे और उन्हीं दिनों उनकी यह सबसे लम्बी और ताक़तवर कविता 'अँधेरे में' पूरी हुई। एक रात दो घंटों में उन्होंने उस कविता का पाठ किया। हम सुननेवाले तो उसके बाद बड़ी देर तक सन्नाटे में बैठे रहे— ऐसा प्रभाव उस कविता का था और मुक्तिबोध ने एक के बाद एक बीड़ियां जलाना शुरू कर दिया। उस समय उन्हें देखकर लगता था, इस आदमी ने अपने को निचोड़ दिया, अपना सर्वस्व दे दिया, अपनी सारी प्राणशक्ति इस में भर दी है और अब यह रिक्त हुआ बैठा है। मुझे लगता है, उस घटना ने मुक्तिबोध को सबसे अधिक आघात पहुँचाया। जिसने उन्हें तब देखा है, वही जान सकता है कि भारतीय जीवन में जिन काले संकेतों को उन्होंने देखा था उन से वे कितने*

विचलित, उत्तेजित और त्रस्त थे।'[६९] मुक्तिबोध की उक्त पुस्तक को १९ सितम्बर १९६२ में प्रतिबन्धित किया गया था। यह समय इस कविता के पूर्ण होने का है। निश्चित रूप से केवल इसी घटना को कविता की उत्सभूमि कहना अनुचित होगा, परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इस घटना ने अन्तिम समय में भी इस कविता के कलेवर में बदलाव करने के लिए मुक्तिबोध को प्रेरित किया होगा। अगर ऐसा न हुआ होगा, जिसकी सम्भावना अत्यल्प है, तब भी यह एक विस्मित कर देनेवाली सच्चाई है कि मुक्तिबोध आगत सत्य को कितनी स्पष्टता से देख रहे थे। जिस व्यवस्था में अभिव्यक्ति की आज़ादी पर इतने ख़तरे मँडरा रहे हो उसमें व्यक्ति की चेतना ज़िन्दगी के अँधेरे बन्द कमरे में निष्क्रिय छिप नहीं जाएगी तो क्या संघर्ष करेगी। परन्तु चेतना का इतिहास अवचेतन से हमेशा आक्रान्त रहा है। ज़िन्दगी के तलघर में दबी चेतना बार–बार अपने अवचेतन से दूर भागने का प्रयत्न करती है, क्यों? क्योंकि उसे सामाजिक जंगल के दस्यु का भय है। काव्यनायक के अवचेतन का हठी भाव बार–बार प्रकट होता है, परन्तु वह उसे पहचान नहीं पाता। घर की छत से फूले हुए पलस्तर झरते हैं और स्वत: ही वहाँ एक चेहरा बन जाता है–

'नुकीली नाक और
भव्य ललाट है,
दृढ़ हनु,
कोई अनजानी अन–पहचानी आकृति।
कौन वह दिखाई जो देता, पर
नहीं जाना जाता है!
कौन मनु?'[७०]

इस अन–पहचानी आकृति या सम्भावित मनु की पहचान काव्यनायक को तब होती है जब 'तिलस्मी खोह का शिला-द्वार/ खुलता है धड़ से/ ....घुसती है

लाल–लाल मशाल अजीब–सी,/अन्तराल–विवर के तम में/लाल–लाल कुहरा,/कुहरे में, सामने, रक्तालोक–स्नात पुरूष एक,/रहस्य साक्षात्।' इस साक्षात् रहस्य में काव्यनायक को किसी प्रिय की सम्भावना दिखाई पड़ती है, लो काव्यनायक ने पहचान लिया उसे– ''

''वह रहस्यमय व्यक्ति
अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है,
पूर्ण अवस्था वह
निज–सम्भावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिभाओं की,'[७१]

रात के अँधेरे में दरवाजे की साँकल बजानेवाला द्युतिमय मुख सम्भवत: वही है। वह पुन: प्रकट हो जाता है, कवि की सुविधाओं का खयाल किए बग़ैर। काव्यनायक अपने इस रूप से लगाव तो रखता है, पर अपनी जड़ता के कारण उसे से मिल नहीं पाता, उसे आत्मसात् नहीं कर पाता। 'उसे देख प्यार उमड़ता है अनायास' पर उससे डरता है, क्योंकि 'वह बिठा देता है तुंग शिखर के। ख़तरनाक, खुरदुरे कगार – तट पर'।

यह रहस्यमय व्यक्ति–अव्यक्त अभिव्यक्ति या अवचेतन की आकांक्षा है जो चेतन मन के डर के कारण प्राय: प्रकट होते–होते रह जाता है। अनिच्छा से जब वह दरवाजा खोलता है, रहस्यमय व्यक्ति जा चुका होता है। रात का पक्षी कहता है–

''वह चला गया है,
वह नहीं आएगा, आएगा ही नहीं
अब तेरे द्वार पर।
वह निकल गया है गाँव में शहर में!
उसको तू खोज अब
उसका तू शोध कर!'[७२]

काव्यनायक उसके शोध को प्रस्तुत होता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह पूरा घटनाक्रम स्वप्न में घटित हो रहा है। काव्यनायक के द्वन्द्व का पहला चिह्न

यहाँ बेहतर स्पष्ट होता है। क्योंकि यह स्वप्न है, इसलिए अवचेतन किसी—न—किसी रूप में प्रकट हो ही जाता है, और प्रकट होकर न केवल सूचना दर्ज़ कराता है, बल्कि काव्यनायक की खोजी वृत्ति को भी जागरित कर देता है। खोज की इस प्रक्रिया में ज्ञान से परिचय होना स्वभाविक है, उसे सबसे पहले तॉल्स्तॉय दिखाई देते हैं। तॉल्स्तॉय के पश्चात् एक प्रोसेशन दिखाई पड़ता है। स्वप्न में चलता हुआ यह प्रोसेशन विचित्र ही नहीं विसंगतिपूर्ण भी है। — प्रोसेशन में

''बैण्ड के लोगों के चेहरे
मिलते हैं मेरे देखे हुओं से,
लगता है उनमें कई पत्रकार
इसी नगर के।''[७३]

इसके पीछे 'संगीन नोकों का चमकता जंगल दिख रहा है' इस जंगल के पीछे है, सैनिकों का जत्था, 'चिढ़े हुए, झुलसे हुए, बिगड़े हुए' इनमें से कई काव्यनायक का परिचित है। इतना ही नहीं एक प्रोसेशन में और हैं—

''कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मॉर्शल
कई और सेनापति सेनाध्यक्ष
चेहरे वे मेरे जाने—बुझे से लगते
xx xx xx xx xx
भई वाह!
उनमें कई प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, जगमगाते कवि-गाण
मन्त्री भी, उद्योगपति और विद्वान
यहाँ तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात
डोमा जी उस्ताद
बनता है बलबन
हाय, हाय!!''[७४]

यह विसंगतिपूर्ण प्रोसेशन इसीलिए है क्योंकि इसमें कई विरोधी शक्तियाँ गलबाहें डाले चल रही है।

इन्हीं विरोधी शक्तियों के नाभिनाल संबंध का पर्दाफ़ाश करना काव्यनायक की बेचैनी का कारण है। उसका अवचेतन बार–बार प्रकट होना चाहता है, परन्तु उसे चेतन का सहयोग नहीं मिलता। स्वप्न के इस संघर्ष में अवचेतन चेतन पर हावी हो जाता है और वे सारे परिदृश्य प्रोसेशन रूप में प्रकट हो जाते हैं। पर स्वप्न में अवचेतन ने स्वयं को अभिव्यक्त कर दिया है। ईड से संचालित अवचेतन का विरोध ईगो स्वप्न में भी करता है। फ्रायड कहते हैं स्वप्न में इच्छाओं को ईगो डरा–धमका कर दमित करने की कोशिश करता है। स्वप्न में जब असंगतियों का पर्दाफ़ाश होता है यथार्थ–सिद्धांत के अधीन कार्य करने वाला ईगो तुरन्त इसके दुष्परिणाम को प्रकट करता है–

''इतने में प्रोसेशन में से कुछ मेरी ओर
आँखें उठीं मेरी ओर–भर,
xx xx xx xx
सड़क पर उठ खड़ा हो गया कोई शोर–
''मारो गोली, दाग़ो स्साले को एकदम
दुनिया की नज़रों से हटकर
छिपे तरीक़े से
हम जा रहे थे कि
आधीरात – अँधेरे में उसने
देख लिया हमको
मार डालो, उसको ख़त्म करो एकदम
रास्ते पर भाग–दौड़, धका–पेल!!
गैलरी से भागा मैं पसीने से सराबोर!![७५]

और स्वप्न खत्म होता है। यथार्थ–सिद्धांत के अधीन क्रियाशील ईगो का डर अपना पूरा प्रभाव दिखा चुका होता है। काव्यनायक पसीने से सराबोर हो जाता

है। एक ही व्यक्ति के भीतर कई व्यक्ति बैठा रहता है। डॉ. नामवर सिंह ने सही कहा कि *''अँधेरे में' का काव्यनायक एक आत्म–निर्वासित व्यक्ति है, जिसके आत्म–निर्वासन का प्रतीक है उसका गुहावास'*[७६] और कारण है असंगतिपूर्ण व्यवस्था के प्रति विद्रोह के भाव का दब जाना। व्यवस्था की विद्रूपता के प्रति काव्यनायक की चेतना में विद्रोह की कोई उत्कंठा नही है, यह उत्कंठा अवचेतन में दबी हुई है, जो स्वप्न में ही अपनी अभिव्यक्ति पाती है।

स्वप्न का दूसरा प्रकरण शुरू होता है, काव्यनायक के गुहावास से। यथार्थ का डर काव्यनायक को आक्रांत किये है। वह भागता रहता है, निज की ही प्रतिभाओं, सम्भावनाओं से दूर, परन्तु यह प्रयास भी अधिक देर तक स्थिर नही रह पाता, काव्यनायक एक बरगद की छाँव में आश्रय ग्रहण करता है। बरगद इतिहास–चेतना का प्रतीक है। इस इतिहास से कवि के सुपर–ईगो को निर्मित करने में प्रभावी भूमिका अदा की है। भागता हुआ काव्यनायक जब बरगद की छाँव में शरण लेता है, वहाँ खड़ा पागल उसकी जड़ता को तोड़ने का काम करता है और बतलाता है कि अपने ही भीतर के सम्भावना–पुरूष से दूर मत भाग। वह उसके पलायनवाद को कोसता है–

दुखों के दाग़ों को तमग़ों–सा पहना,
अपने ही खयालों में दिन–रात रहना,
असंग बुद्धि व अकेले में सहना,
ज़िदगी निष्क्रिय बन गयी तलघर,
अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया!![७७]

पागलों की आत्मभर्त्सना के इस स्वर में कदाचित् काव्यनायक की जड़ता का इतिहास है। जिस जड़ता ने विसंगतियों–विद्रूपताओं के प्रति उसे संवेदनाहीन बना दिया है।

''करूणा के दृश्यों से हाय! मुँह मोड़ गये बन गये पत्थर'[७८]

पागल वस्तुत: बरगद की आत्मा में बसे मनुष्य की जड़ता का सवाक् प्रतीक है। पागल इतिहास का मानवीकरण है। पागल का आत्मालोचन चेतना की पलायनवादी और जड़ प्रवृत्ति को तोड़ता है। काव्यनायक अपनी ही छाया–मूर्ति की तरह स्वयं के सामने खड़ा हो जाता है। यह छायामूर्ति, उसका अपना ही अवचेतन हैं काव्यनायक अब निष्क्रिय नहीं रह सकता बल्कि सोचता है, सारी समस्याओं की जड़ उसकी निष्क्रियता ही है–

''मानो मेरे कारण ही लग गया
मार्शल लॉ, वह,
मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा ने संकट बुलाया''[३९]

काव्यनायक, अब तक अपने अवचेतन के भावों से परेशान था, परन्तु अब प्रतीत होता है कि कारण अवचेतन के भाव नहीं बल्कि उसको दबाये रखने का उसका प्रयास था। आत्मचेतस होकर काव्यनायक आगे बढ़ता है। खोज के प्रयास में वह पहुँचता है एक खोह के भीतर जहाँ उसे तेजस्क्रिय मणियाँ दिखाई पड़ता है, मानो किसी काव्यात्मन् फणिधर ने ये मणियाँ यहाँ छोड़ रखी हो–

''दीप्ति में वलयित रत्न वे नहीं हैं
अनुभव, वेदना, विवेक–निष्कर्ष
मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं।''[४०]

इन रत्नों को पाकर उसे खुशी मिलती है, दुख भी है कि उसने इन 'रत्नों' को जन-उपयोग से दूर रखा था। विचारों के अस्त्रों से लैस मार्शल लॉ के उस भयंकर वातावरण में बाहर निकलता है। उसके मन में तीव्र प्रेरण है– 'जूझना ही तै है।'

व्यवस्था के इस अराजक रूपों ने भावी संसार की आकांक्षा के प्रतिरूप तिलक की पाषाण–मूर्ति को भी संज्ञावान बना दिया है। तात्पर्य यह कि स्थितियाँ ऐसी है जिसमें अब चुप नहीं रहा जा सकता। चुप रहना अब पाषाण

होने से कहीं ज्यादा नि:संज्ञ होना होगा। काव्यनायक किसी भयानक ज़िद से भर उठता है।

ज्ञान से साक्षात्कार करता हुआ काव्यनात्मक गाँधी जी से टकराता है। गाँधी जी काव्यनायक को विप्लव का प्रतीक शिशु सौंपते हैं। विप्लवी चेतना की प्रवृत्ति बिल्कुल शिशुओंवली होती है, हठी और समर्पणशील। गाँधी जी केवल शिशु ही नहीं, वैचारिक मणि भी देते हैं—

''जनता के गुणों से ही सम्भव
भावी का उद्‌भव...''[४१]

शिशु सौंपते हुए गाँधी जी कहते हैं— 'मेरे पास चुपचाप सोया हुआ यह था। सँभालना इसको, सुरक्षित रखना'।

मार्शल लॉ के उस भयंकर समय में काव्यनायक पकड़ लिया जाता हैं उसका दोष यही है कि उसके पास विचारों की मणियाँ हैं। उसके मस्तिष्क में स्वप्न है। उसके सिर को तोड़कर मस्तिष्क के ऊर्जा—केन्द्र खोजे जा रहे हैं—

'मस्तक—यन्त्र में कौन विचारों की कौन—सी ऊर्जा,
xx xx xx xx xx xx xx
इस संस्था के सेक्रेटरी को खोज निकालो,
शायद, उसका ही नाम हो आस्था,
कहाँ है सरगना इस टुकड़ी का
कहाँ है आत्मा?''[४२]

डॉ. रामविलास शर्मा 'शीश की हड्डी तोड़े' जाने का ध्वन्यर्थ न समझकर, मुक्तिबोध का ग़लत मनोविश्लेषण करते हुए उन्हें सिज़ोफ्रेनिक साबित करने की कोशिश करते हैं। शीश की हड्डी तोड़े जाने का मतलब व्यक्ति को विचारों—स्वप्नों से अलग रखना है, क्योंकि ये असंगतिपूर्ण व्यवस्था के विरूद्ध काम आनेवाले भयंकर अस्त्र हैं। और इसको धारण करनेवाला व्यक्ति हथियार रखने का आरोपी है।

कैद से मुक्त होने पर, काव्यनायक जन—समुद्र की ओर चल पड़ता है, उसके सामने 'भावी के उद्‌भव' का प्रेरण हैं और यह 'जनता के गुणों' से ही सम्भव है।—

''मुझे अब खोजने होंगे साथी—
काले गुलाब व स्याह सिवन्ती,
श्याम चमेली,''[८३]

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये 'काले गुलाब' और 'स्याह सिवन्ती' कौन हैं। इसका ज़िक्र 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' कविता में भी आया है। बरगद की छाँह में सोये हुए ये लोग मेहनतक़श मज़दूर, सर्वहारा थे। 'अँधेरे में' का काव्यनायक इसी की खोज में निकल पड़ा है। समाज के जन—जन तक पहुँचता है, यह काव्यनायक। स्त्री—पुरूष, अबाल—वृद्ध, धीरे—धीरे एकजुट होते हैं। जनता के पास जाकर उसे इस बात का एहसास होता है कि। भीतर—ही—भीतर इस व्यवस्था के प्रति लोगों में बहुत तेज गुस्सा हैं। वह इस निर्णय पर पहुँचता है—

''वर्त्तमान समाज चल नहीं सकता।''[८४]

काव्यनायक के इस निर्णय की घोषण के साथ ही विप्लव का आग़ाज हो जाता है — 'कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गई!!' और इस तरह से एक खूनी क्रांति की शुरूआत हो जाती है।

यही क्रांति कवि का संवेदनात्मक उद्‌देश्य है, यह बात अलग है कि यह गाँधीवादी विचारों का एक मार्क्सवादी समाधान है। यह मुक्तिबोध की सर्वोच्च—विवेक चेतना है, जो उनके ही सृजित काव्यनायक को गाँधीवाद से विचार लेकर उसे मार्क्सवादी प्रयोगशाला में बिठा देता है। इतिहास साक्षी है कि गाँधीजी का अपने विचारों, आदर्शों और आग्रहों से कभी मोहभंग नही हुआ था, फिर उन्होंने काव्यनायक को यह क्यों कहा कि—

''भाग जा, हट जा
हम हैं गुज़र गये ज़माने के चेहरे

आगे तू बढ़ जा।'[८५]

वस्तुतः यह मुक्तिबोध का अपना ही मन है, जो गाँधीवाद से विचार के सूत्र तो लेता है, परन्तु उसका समाधान मार्क्सवाद में खोजता है। मुक्तिबोध गाँधीवाद को कभी नकार नहीं सके, और मार्क्सवाद से कभी मुक्त न रहे। गाँधीवाद और मार्क्सवाद का द्वन्द्व ही 'अँधेरे में' के काव्यनायक को खूनी क्रांति से भविष्य का नक्शा बनाने की प्रेरणा देता है।

स्वप्न से मुक्त होने पर काव्यनायक खुश है। उसे लगता है— 'मानो कि कल रात किसी अनपेक्षित क्षण में ही सहसा/प्रेम कर लिया हो/जीवन भर के लिए/' स्वप्न के खत्म होने पर काव्यनायक इस बार परेशान नहीं है, उसकी चेतना अब जाग्रत-जगत में जाकर उस परम—अभिव्यक्ति—क्रांति की खोज करेगी, जो अब तक स्वप्नों में प्रकट होती रही है—

''इसलिए मैं हर गली में
और हर सड़क पर
झाँक—झाँक देखता हूँ हर एक चेहरा,
खोजता हूँ पठार... पहाड़... समुन्दर
जहाँ मिल सके मुझे
मेरी वह खोयी हुई
परम—अभिव्यक्ति अनिवार
आत्म—सम्भवा।'[८६]

सन्दर्भ—सूची

१ . मुक्तिबोध, पृ. — १५.

२. . चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — ११०

३ . वही, पृ. — १११.

४ . मुक्तिबोध की कविताई, पृ. — १४२.

५ . चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — ११०

६ . वही, पृ. — ११४

७ . मुक्तिबोध की कविताई, पृ. — १४६.

८ . चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — ११७

९ . वही, पृ. — ११८

१०. वही, पृ. —१२०

११ . वही, पृ. — १७२

१२. वही, पृ. — १७२

१३. वही, पृ. — १७३

१४. वही, पृ. — १७४

१५. वहीं — १७४

१६. वही, पृ. — १७७

१७. वही, पृ. — १७८

१८. वही, पृ. — १७९

१९. वही, पृ. — १८२

२०. वही

२१. वही, पृ. — १८३

२२. मुक्तिबोध की आत्मकथा, पृ. — ४२२

२३. चाँद का मुँह टेढ़ा है — पृ. — ५२

२४. वही, पृ. — ५२

२५. वही, पृ. — ५४

२६. वही, पृ. — ५५

२७. वही, पृ. — ५७

२८. वही, पृ. — ५८

२९. वही, पृ. — ६५

३०. वही, पृ. — ६५

३१. वही, पृ. — ६६

३२. वही, पृ. — ६८

३३. वही, पृ. — १३९

३४. वही, पृ. — १३९

३५. वही, पृ. — १४०

३६. वही, पृ. — १४५

३७. वही, पृ. — १४५

३८. वही, पृ. — १४६

३९. वही — १४६

४०. वही, पृ. — १४८

४१. वही, पृ. — १४९

४२. वही, पृ. — ४७

४३. वही, पृ. — ४८

४४. वही — ४९

४५. वही — ५०

४६. वही, पृ. — ५१

४७. निराला और मुक्तिबोध, चार लम्बी कविताएँ पृ. — १०५

४८. वही, पृ. — १५०

१९. मुक्तिबोध की कविताई, पृ. — ११२

५०. निराला और मुक्तिबोध, चार लम्बी कविताएँ पृ. — ११७

५१. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — ४३

५२. आर्ट खण्ड लिटरेचर, पृ. — १९४

५३. वही, पृ. — २०१

५४. वही, पृ. — २०२

५५. मुक्तिबोध की कविताई, पृ. — १०२

५६. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — ३८

५७. वही, पृ. — ४०

५८. वही, पृ. — ४१

५९. वही, पृ. — ४२

६०. वही, पृ. — ४३

६१. वही — ४३

६२. वही — ४५

६३. वही, पृ. — ४६

६४. मुक्तिबोध की कविताई, पृ. — ९२

६५. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — २७

६६. कविता के नये प्रतिमान, पृ. — २२८

६७. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — २८१

६८. निराला और मुक्तिबोध चार लम्बी कविताएँ, पृ. — १२३

६९. वही, पृ. — १२२

७०. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — २५४

७१. वही, पृ. — २५६

७२. वही, पृ. — २६०

७३. वही, पृ. — २६३

७४. वही, पृ. — २६४

७५. वही, पृ. — २६५

७६. कविता के नये प्रतिमान, पृ. — २२२

७७. चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. — २६८

७८. वही, पृ. — २६८

७९. वही, पृ. — २७०

८०. वही, पृ. — २७२

८१. वही, पृ. — २७८

८२. वही, पृ. — २८३

८३. वही, पृ. — २८५

८४. वही, पृ. — २९०

८५. वही, पृ. — २७७

८६. वही, पृ. — २९६

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में बहुत कम फंतासी रची गई हैं, जो रची गई हैं, उनमें भी अधिसंख्य मुक्तिबोध की हैं, इसलिए फंतासी के साथ हिन्दी साहित्य में मुक्तिबोध का नाम बद्धमूल हो गया है। मुक्तिबोध की फंतासी पर दुर्बोधता के आरोप लगाये जाते रहे हैं, इसका एक बड़ा कारण मुक्तिबोध की फंतासी की जटिल संरचना है और दूसरा कारण फंतासी की किसी प्रौढ़ परम्परा का हिन्दी साहित्य में अभाव है। यह सच है कि फंतासी एक भाववादी शिल्प है और इसके अनुरूप इसके गठन में वैयक्तिक आग्रह भी कहीं ज्यादा होते हैं, जिस से इसका अनुशीलन आसान नहीं होता। मुक्तिबोध की फंतासी का शिल्प अतिशय वैयक्तिक है। बिम्ब, प्रतीक, मिथक, स्वप्न सभी उनकी कल्पना शक्ति का सहारा पाकर विशिष्ट हो उठते हैं, यही विशिष्टता फंतासी के भाव को आधार प्रदान करते हैं और दुर्बोधता भी उत्पन्न करते हैं।

मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन से मुक्तिबोध की फंतासी के जो अर्थ प्राप्त किये जा सकते हैं, आवश्यक नहीं कि वह उसका चरम अर्थ भी हो लेकिन इससे रचनाकार और रचना के अन्तर्संबंधों को खोलने का सूत्र तो मिलता ही है। रचनाकार के मानस का संबंध बाह्य के आभ्यांतरीकण से होता है और इस प्रक्रिया का संबंध उसके अवचेतन से, क्योंकि अवचेतन में दमित भाव, विचार अथवा आदर्श ही वस्तुत: उस आभ्यंतरीकृत बाह्य के प्रति अपनी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया प्रकट करता है, भले ही यह प्रतिक्रिया बाह्य के अनुकूल हो या कि प्रतिकूल।

मुक्तिबोध के काव्यनायक खोजी प्रवृत्ति वाले हैं। फंतासी के आगे बढ़ने के साथ उसके चरित्र में विकास दिखाई पड़ता है। एक यथास्थितिवाद से निकलकर काव्यनायक भविष्य तक की यात्रा करता है। मूलत: मुक्तिबोध अपनी फंतासी में भविष्य के स्रष्टा के रूप में प्रकट होते हैं। मन की निगूढ़

वृत्तियों, इच्छित विश्वासों या इच्छित जीवन–स्थितियों को प्रकट करने के लिए उनका बौद्धिक मन मानव–इतिहास के गहरे में प्रवेश करता है। इसी इतिहास से कवि का सुपर ईगो आकृति ग्रहण करता है।

मुक्तिबोध कलावादी साहित्यिक नहीं हैं। भाववादी शिल्प के भीतर जीवन का एक खुरदुरा यथार्थ उनकी कविता के प्राण बने हैं। अवचेतन में जमे विचारों–आदर्शों का संबंध जीवन की यथार्थजन्य विसंगतियों से है। इन विसंगतियों के प्रति मुक्तिबोध जब प्रतिक्रियाशील होते हैं तो उनकी प्रतिक्रिया केवल सपाट प्रतिक्रिया-मात्र नहीं होती, वह एक रचनाकार के मानस की कलाकृति होती है। रचनाकार एक झीने परदे का निर्माण करते हुए, उन संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को प्रकट करता है अन्यथा सपाटबयानी का शिकार होकर मुक्तिबोध की फंतासी भी अन्ततः एक शुष्क प्रतिक्रिया बनकर रह जाती और उसमें रसानुभूति की शक्ति नहीं आ पाती। रचनात्मक प्रतिभा ही एक फंतासी को रसानुभूति की शक्ति से लैस करती है। परन्तु फंतासी का अनुशीलन केवल रचनात्मक–कौशल के सहारे ही नहीं हो सकता, इसके लिए उन परिस्थितियों का सहारा लेना भी आवश्यक है, जो फंतासी के लिए किसी भाव या विचार को तीव्रता से उद्भुक्त कर देता है। कला के इस प्रथम क्षण का सीधा संबंध वैसे तो रचनाकार से होता है, पर फंतासी में प्रायः इसकी व्यंजना हो ही जाती है, जिसे सावधानीपूर्वक ग्रहण करते हुए फंतासी के भीतर उतरना पड़ता है।

वस्तुतः मुक्तिबोध की फंतासी में एक विराट् सांस्कृतिक सन्दर्भ है। ~~फंतासी के सांस्कृतिक भावों को ग्रहण सांस्कृतिक सन्दर्भ है।~~ फंतासी के सांस्कृतिक भावों को ग्रहण करने के लिए, उसकी बारीकी और सौन्दर्य की पहचान के लिए अध्येता से एक विशिष्ट ऐतिहासिक–सांस्कृतिक बोध की अपेक्षा रहती है। वस्तुतः इतिहास और संस्कृति ही मुक्तिबोध के सुपर–ईगो का निर्माण करते हैं और इतिहास के अनुशीलन का जो दार्शनिक आधार मुक्तिबोध

को प्राप्त होता है, वह मार्क्सवाद है, इसलिए इतिहास से लेकर वर्त्तमान और भविष्य तक सभ्यता संस्कृति की समीक्षा का मुक्तिबोध का दृष्टिकोण द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रेरित–प्रभावित है। प्रस्तुत शोध–प्रबंध में मनोविश्लेषण करते हुए इस बात का ध्यान तो रखा गया है, परन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि मुक्तिबोध की फंतासी में निहित इतिहास, संस्कृति और सभ्यता–बोध पर अलग से शोध की आवश्यता है, इस से फंतासी की पठनीयता के संकट को दूर करने में भी पर्याप्त मदद मिलेगी।

गेस्टाल्टवाद, व्यवहारवाद, प्रवृत्तिवाद, वातावरणवाद, मनोविश्लेषणवाद आदि मनोविज्ञान के कई सम्प्रदाय हैं, और इसके आदि संस्थापक सिग्मंड फ्रायड हैं। फ्रायड ने यह स्थापित किया कि मनुष्य की मानसिक–शारीरिक क्रियाओं को उसके मस्तिष्क के तीन ऊर्जा–केन्द्र मिलकर नियंत्रित करते हैं। ये क्रमशः चेतन, अवचेतन एवं उपचेतन होते हैं। फ्रायड ने फंतासी–निर्माण को इन्हीं की क्रिया–प्रतिक्रिया से जोड़कर देखा है। मुक्तिबोध की फंतासी के विश्लेषण में हमने फ्रायड की अवधारणा को ही आधार बनाया है, पर साथ ही इस बात का ध्यान भी रहा है कि फंतासी अपनी रचना–प्रक्रिया में अपने मूल से पृथक होती चली जाती है। क्योंकि फंतासी में केवल अचेतन मन ही प्रकट नही होता है,अनायास ही इसमें कवि का चरित्र भी प्रकट हो जाता है।

उनकी फंतासी का संवेदनात्मक उद्देश्य रचना द्वारा सर्वहारा के अधिकार प्राप्ति को सुनिश्चित करना है। ऐसा करते हुए उन्होंने पूँजीवादी सभ्यता की आलोचना भी की है और इस कार्य के लिए वर्तमान सभ्यता की सच्चाई को जानने और सर्वहारा को एकजुट करने के लिए बौद्धिक वर्ग को एक जरूरी सहभागी के बतौर प्रस्तुत भी किया है। फंतासी के कथ्य के भीतर से काव्य–चरित्र का जो रूप उभरता दिखाई पड़ता है, उसके आलोक में, उनकी विश्व–चिन्ता को परखने पर यह स्पष्ट होता है कि उनकी फंतासी भावी समाज (इच्छित समाज) की रचना–प्रक्रिया में अपनी सार्थकता को और अधिक प्रबल रूप में प्रमाणित करेगी।

ग्रन्थानुक्रमणिका

१. आधार ग्रन्थ

२. सन्दर्भ ग्रन्थ

३. कोष

आधार ग्रन्थ

गजानन माधव मुक्तिबोध — चाँद का मुँह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली, सत्रहवाँ संस्करण — २००५

नेमिचन्द्र जैन (सम्पा.) — मुक्तिबोध रचनावली भाग १—२, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली द्वितीय संस्करण, पहली आवृत्ति — १९९८

सन्दर्भ ग्रन्थ (हिन्दी)

अशोक चक्रधर — मुक्तिबोध की कविताई, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली आवृत्ति — २००३

अशोक बाजपेयी (सम्पा.) — प्रतिनिधि कविताएँ, गजानन माधव मुक्तिबोध, प्रकाशन — राजकमल पेपरबैक्स, चौथा संस्करण, आवृत्ति — २००३

गजानन माधव मुक्तिबोध — एक साहित्यिक की डायरी, प्रकाशन, भारतीय ज्ञानपीठ छठा संस्करण — २०००

गजानन माधव मुक्तिबोध — कामायनी एक पुनर्विचार, प्रकाशन — राजकमल, तीसरी आवृत्ति — २००२

गजानन माधव मुक्तिबोध — नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध प्रकाशन — विश्वभारती, द्वितीय संस्करण १९७७

नामवर सिंह — कविता के नए प्रतिमान, प्रका. — राजकमल, पहला संस्करण, पाँचवी आवृत्ति २०००

नेमिचन्द्र जैन — मुक्तिबोध रचनावली (३—६), राजकमल प्रकाशन द्वितीय संस्करण पहली आवृत्ति — १९९८

नंदकिशार नवल — निराला और मुक्तिबोध : चार लम्बी कविताएँ, प्रकाशन — राधाकृष्ण, प्रथम संस्करण — १९९३

नंदकिशोर नवल — मुक्तिबोध, प्रकाशन साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण पुनर्मुद्रण — २००६

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ — प्रतिनिधि कविताएँ, प्रकाशन — राजकमल पेपर बैक्स, तीसरा संस्करण दूसरी आवृत्ति — २००३

राजेश जोशी — एक कवि की नोटबुक, प्रकाशन राजकमल, पहला संस्करण — २००४

रामविलास शर्मा — नई कविता और अस्तित्ववाद, प्रका. राजकमल, छात्र संस्करण आवृत्ति २००३

लक्ष्मण दत्त गौतम (सम्पा.) — गजानन माधव मुक्तिबोध, विधार्थी प्रका. नई दिल्ली — १९७२

विष्णु चन्द्र शर्मा — मुक्तिबोध की आत्मकथा — संवाद प्रकाशन, मुम्बई—मेरठ, प्रथम संस्करण २००४

Reference Book (English)

Herbert Marcuse — Eros and civilization (A philosophical enquary into freud.), pub-Allen lane the penguin press, Britain – 1969.

James Mark Baldwin (Editor) — Encyclopaedia of philosophy and psychology (IV), cosmo publication,1902,1986

J. Lacan — Ecrits ; A selection, Translated by Alen sheridan, Routledge classics publication London and New York, first publication, Reprinted 2004.

Peregrine Horden — Freud And Humanities, publiction – Duckworth London, 1985.

Sigmund freud – Art and Literature (14) shreeji's book publication, New delhi first pub – 2003.

Sigmund freud – Collected papers IV; Translated by Joan rivieve, publication Hogarth Press, London 1971.

कोष

Gunhild Prowe & Jill Sehneider – The oxford German Minidictionary, oxford university press, 1999